(गोविन्द माधव)

आध्यात्मिक जीवन

के

२०० उपयोगी प्रश्न

(पुस्तक संख्या–40)

विनयावनत–

ब्रह्मशंकर शास्त्री

★प्रकाशक की ओर से★

वर्तमान समय में अनेक मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य से भटक गए हैं तथा वे संसार में इतना लिप्त हो चुके हैं कि उन्हें सांसारिक जीवन में विलासितापूर्ण और भोग्य वस्तुऐं ही सब कुछ प्रतीत हो रही हैं। आज का मानव अपने भोग्य पदार्थो और विलासितापूर्ण वस्तुओं के संकलन में लगा हुआ है। वह इतना व्यस्त हो चुका है कि उसे यह सोचने का अवसर ही नहीं मिलता कि इस जीवन के उपरान्त भी कोई एक और जीवन है। इस जीवन के पहले भी कई जीवन थे और उन जीवन यात्राओं में हमने जो कुछ भी किया वह आज हमें प्राप्त हो रहा है। इस जीवन में हम जो कुछ भी करेंगे वह आने वाले जीवन में हमें प्राप्त होगा। मनुष्य संसार के अनेक विषयों का अध्ययन करता है परन्तु वह यह मानव जीवन क्या है? और इसका उद्देश्य क्या है? इसको जानने की ओर उन्मुख नहीं हो रहा है, क्योंकि संसार में ही बहुत कुछ प्राप्त करने के लिए है। असंख्य वस्तुऐं और असंख्य स्थितियां हमारे समक्ष उपस्थित हैं, जिनको हम पूरी तरह से प्राप्त कर लेना चाहते हैं। परन्तु असंख्य को प्राप्त कर लेना असंभव है और इस संसार की असंख्य वस्तुओं और स्थितियों को प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्नशीलता है वह हमें आध्यात्मिक पथ से विमुख किये हुए है।

इस मानव जीवन का क्या उद्देश्य है? और उस उद्देश्य को हम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? इस तथ्य को समझने के लिए हमें अनेक प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता है। सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन यह दो पृथक्–पृथक् प्रकार के जीवन हमारे समक्ष हैं। सांसारिक जीवन तो हम जी रहे हैं परन्तु आध्यात्मिक जीवन के बारे में हम जानना भी नहीं चाह रहे हैं। यही हमारे बंधन और विनाश का कारण है। हमने अपने जीवन के क्या उद्देश्य निश्चित किये हैं ? जो भी निश्चित किये हैं वह वस्तुतः नहीं हैं। इसलिए हमें आध्यात्मिक जीवन की ओर बढ़ना पडेगा। इसी तथ्य को दृष्टिगत् रखकर श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री द्वारा यह लघु पुस्तिका लिखी गई है। आशा है सभी लोग इससे लाभान्वित होंगे।

• प्रकाशक

★विनम्र अनुरोध ★

यह मानव जीवन हमें यूं ही प्राप्त नहीं हुआ है। इसका एक निश्चित उद्देश्य है। इस तथ्य पर सामान्य मनुष्य विचार नहीं करते हैं, जबकि हम सभी को इस सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। संसार में अधिक मनुष्य यह विचार नहीं करते कि आखिरकार हमें यह मानव जीवन क्यों प्राप्त हुआ है ? किसके द्वारा प्रदान किया गया है? और इसका क्या उद्देश्य है? जन्म लेना, जन्म के उपरान्त बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध अवस्थाओं से गुजरना क्या इस मानव जीवन का उद्देश्य हो सकता है? वृद्धावस्था के उपरान्त जो मृत्यु की स्थिति आती है उसको हम रोक नहीं पाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए मृत्यु की स्थिति आना निश्चित है। इसका अन्य कोई विकल्प नहीं है। मनुष्य ने आज तक मृत्यु का कोई विकल्प खोज नहीं पाया है। जिससे यह प्रतीत होता है कि हम इस संसार से नहीं वरन् कहीं अन्य से नियंत्रित और संचालित किये जा रहे हैं। हमारा नियंत्रणकर्ता और संचालन कर्ता कोई अन्य शक्ति और सत्ता है। परन्तु दुःख का विषय यह है कि हम उसके बारे में कुछ भी विचार नहीं कर पा रहे हैं। संसार में इतना फंस चुके हैं कि हमें उस सत्ता के विषय में कोई जानने का अवसर ही नहीं मिलता है।

यदि उस सत्ता ने हमें यह मानव जीवन प्रदान किया है तो हमें उसके बारे में अवश्य कुछ विचार करना चाहिए, जो हमें जन्म देता है, अर्थात् हमारा जनक है। उसे ही हम यदि भुला देंगे, विस्मृत कर देंगे तो हमारा कल्याण कैसे हो सकता है? इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए इस पुस्तिका के लेखन का विचार मन में आया कि सामान्य लोग इस सांसारिक जीवन के अतिरिक्त अन्य भी जीवन है उस बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकें और जान सकें कि हमारा यह मानव जीवन परमात्मा के द्वारा हमें क्यों प्रदान किया गया है? इस सांसारिक जीवन के अतिरिक्त भी कुछ ज्ञान है जिसका हमें बोध होना चाहिए। यह बोध हो सके इसलिए इस पुस्तिका को प्रश्न और उत्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सांसारिक ज्ञान के साथ–साथ सभी लोग आध्यात्मिक ज्ञान को भी जान सकेगे। यही इस लघु पुस्तिका का उद्देश्य है। यह लघु पुस्तिका अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होगी ऐसा हमारा विश्वास है। जब मनुष्य सांसारिक ज्ञान के अतिरिक्त जो अध्यात्मिक ज्ञान है उसको जब जान सकेगा तभी उसकी ओर उन्मुख हो सकेगा। आइये हम सब अपने आध्यात्मिक जीवन के रहस्यों को जाने और अपना कल्याण करें।

➢ब्रह्मशंकर शास्त्री

प्रश्न 1. मानव जीवन का क्या उद्देश्य है ?

उत्तर : मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की अनुभूति है।

प्रश्न 2. पृथक्–पृथक् मनुष्यों ने मानव जीवन के पृथक्–पृथक् उद्देश्य क्यों बना रखे हैं?

उत्तर : पृथक्–पृथक् मनुष्यों ने मानव जीवन के जो पृथक्–पृथक् उद्देश्य बना रखे हैं उनमें धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि हैं। वे उन उद्देश्यों की प्राप्ति में लगे रहते हैं तथा प्रयत्न से धन, पद, प्रतिष्ठा, सम्पन्नता, ऐश्वर्य प्राप्त भी कर लेते हैं परन्तु उनका महत्व और उनकी उपयोगिता जीवन रहने तक ही है। जो भी प्राप्त होता है वह मृत्यु के उपरान्त साथ नहीं रहता। इस कारण मानव ने जो जीवन के अन्य उद्देश्यों का निर्धारण कर लिया है वे उद्देश्य प्रमुख नहीं हैं गौण हैं। मानव जीवन का प्रमुख उदेदश्य तो परमात्मा की प्राप्ति ही है। अन्य जिन उद्देश्यों का विनिश्चय हुआ है वह संसार के आकर्षण को देखकर हो गया है, जो माया का कार्य रूप है।

प्रश्न 3. क्या परमात्मा की प्राप्ति का उद्देश्य बना लेने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है?

उत्तर : उद्देश्य बना लेने से प्राप्ति नहीं हो जाती उसके लिए निरन्तर प्रयत्न भी करना पड़ता है। जिस प्रकार सांसारिक पदार्थो की प्राप्ति के लिए पहले उद्देश्य बनाया जाता है और उसके पश्चात् उसकी प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है तब उद्देश्य की पूर्ति होती है। वैसे परमात्मा की प्राप्ति का पहले उद्देश्य बनाया जाता है तत्पश्चात् उद्देश्य की सफलता के लिए प्रयत्न किया जाता है, जिससे उद्देश्य की सफलता निश्चित हो जाती है।

प्रश्न 4. परमात्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर : परमात्मा की प्राप्ति के चार उपायों का उल्लेख प्रमुख रूप से शास्त्रों में किया गया है। इन साधनों को 1–कर्मयोग 2–ज्ञानयोग 3–ध्यान योग 4–भक्तियोग कहा जाता है। इन्हीं चार साधनों में से एक साधन का भी सम्यक्रूपेण अनुकरण करने से मनुष्य को परमात्मा की अनुभूति हो जाती है।

प्रश्न 5. कर्मयोग साधन क्या है ?

उत्तर : शास्त्रविहीत कर्मो को फलेच्छा तथा आसक्ति का त्याग करके सिद्धि असिद्धि में समभाव रखकर सम्पादित करना कर्मयोग साधन कहा जाता है।

प्रश्न 6. शास्त्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : वैदिक सनातन धर्म के आधारभूत ग्रंथों को शास्त्र कहा जाता है, इनमें वेद, षड़दर्शन, वेदांग, महाभारत, स्मृति ग्रंथ, संहिताऐं, पौराणिक ग्रंथ तथा ऐतिहासिक ग्रंथों की गणना होती है।

प्रश्न 7. वेद क्या है ? और इनकी संख्या कितनी है ?

उत्तर : वेद चार हैं जिन्हें ऋग्वेद, सामवेद, यर्जुवद तथा अथर्ववेद कहा जाता है। वेद अपौरूषेय हैं अर्थात् इनकी रचना मनुष्यों द्वारा नहीं की गई है। इन्हें ईश्वरीय वाणी माना जाता है। वेद नित्य हैं, अनादि हैं। नित्य का अर्थ होता है प्रलयंकाल में भी रहते हैं तथा सृष्टि में भी रहते हैं और इनका कभी अभाव नहीं होता। इस कारण वेदों को नित्य माना जाता है। इनकी भाषा संस्कृत है। वेदों के 6 अन्य अंग भी हैं, जिन्हें वेदांग कहा जाता है। यह अंग है 1– शिक्षा, 2– कल्प, 3– व्याकरण 4– निरूक्त, 5– छंद तथा 6–ज्योतिष।

प्रश्न 8. क्या वेद अपौरुषेय है ?

उत्तर : हां, वेदों को अपौरुषेय माना जाता है अर्थात् किसी भी पुरुष के द्वारा उनकी रचना नहीं हुई है।

प्रश्न 9. वेदों की उत्पत्ति कैसे हुई ?

उत्तर : पौराणिक ग्रंथों की मान्यता के अनुसार प्रजापति ब्रह्मा के चार मुखों से वेदों की उत्पत्ति मानी जाती है। पूर्व मुख से ऋग्वेद, दक्षिण मुख से यजुर्वेद, पश्चिम मुख से सामवेद तथा अथर्ववेद की उत्पत्ति हुई। दूसरी मान्यता के अनुसार जब हमारे ऋषिगण समाधि अवस्था में थे तो उनके समक्ष वैदिक मंत्र प्रकट हो गए अर्थात् उन्होंने मंत्रों का साक्षात्कार किया। इस प्रकार आज जो वैदिक साहित्य हम देख रहे हैं वह परमात्मा की वाणी है जो ऋषियों और महर्षियों पर अवतरित हुई। प्रत्येक वेद के चार उपवेद भी हैं। ऋग्वेद का उपवेद स्थापत्य वेद, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गंधर्ववेद और अथर्वेद का उपवेद आयुर्वेद है।

प्रश्न 10. वेदों के सम्बंध में कुछ विस्तार से चर्चा करें।

उत्तर : ऋृक्, साम, यजु, अथर्व यह चार वेद हैं, जिन्हें मंत्र संहिता कहा जाता है। वेदों के दो प्रमुख भाग हैं, जिन्हें मंत्र और ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में आरण्यक तथा उपनिषद् भी आते हैं। ब्राह्मण ग्रंथ अनेक हैं परन्तु उनमें से आज बहुत विलुप्त हो चुके हैं। ऋग्वेद के प्रमुख ब्राह्मण ग्रंथ ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकि ब्राह्मण है। शुक्ल यजुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण है। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण है। सामवेद के कई ब्राह्मण है। जैसे ताण्डय ब्राह्मण, आर्षेयब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, सामविधानब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण आदि आदि। अथर्वेद का गोपथ ब्राह्मण अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त भी और भी ब्राह्मण ग्रंथ है। जैसे पैगांयाणि ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, कादेयब्राह्मण, दैवतब्राह्मण इन ब्राह्मण ग्रंथों में यग–यैज्ञादिका का विशेष विधान किया गया है। वेदों की अनेक शाखाऐं हैं, जो वर्तमान में अधिकांश रूप से विलुप्त हो चुकी हैं। ऋग्वेद की 21 शाखा, यजुर्वेद की 101 शाखाऐ, सामवेद की 1000 शाखाऐं तथा अथर्वेद की 9 शाखाऐं हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर 1131 शाखाऐं हैं, परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि इन शाखाओं में अनेक शाखाऐं वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है।

वेदों के अनेक भाष्यकार हुए है। इनमें प्राचीन भाष्यकारों में माधव, भरतस्वामी, आनन्दतीर्थ, भट्टभास्कर, स्कंदस्वामी, हरिस्वामी, आत्मानन्द, उद्गीथ, आदि का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। किसी एक विद्वान ने वेदों का सम्पूर्णता से भाष्य नही किया है परन्तु इन भाष्यकारों में एक विशिष्ट भाष्यकार का नाम सायणाचार्य है। सायणाचार्य अपने समय के वेदों के विशिष्ट विद्वान थे। इन्होंने चारों वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों तथा कुछ आरण्यक ग्रंथों का विस्तार से भाष्य किया था। सायणाचार्य के वैदिक भाष्यों में व्याकरण का प्रयोग अधिकाधिक रूप से हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ पश्चिमी विद्वानों ने भी वेदों के भाष्य का प्रयास किया। उनमें मैक्समूलर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। आचार्य शंकर ने 11 उपनिषदों का भाष्य किया था जिस कारण सायणाचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य नहीं किया है। वेदों के मुख्य तीन विषय है। जिन्हें 1– कर्मकाण्ड 2– उपासना काण्ड 3– ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। ऋग्वेद पद्य रूप में है। यजुर्वेद गद्य रूप में हैं तथा सामवेद गीति रूप में है। गुरूओं के मुख से सुनकर वेदों का पाठ होता है, इस कारण वेदों का एक नाम श्रुति भी है।

प्रश्न 11. उपनिषद् किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपनिषद ब्रह्मविद्या के प्राचीनतम् ग्रंथ हैं। इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। वेदों के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद कहते हैं। उपनिषदों में प्रमुख रूप से ब्रह्म, जीव, प्रकृति तथा ब्रह्म की अनुभूति के विषय को प्रमुखता से व्याख्यापित किया गया है। उपनिषदों की संख्या का

निश्चितरूपेण निर्धारण किया जा पाना संभव नहीं है। वर्तमान में लगभग 200 उपनिषद हैं जिनमें 11 प्रमुख है। जिनके नाम है ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, वृहदारण्यकोपनिषद् प्रमुख हैं। उपनिषदों को परा विद्या का विशिष्ट ग्रंथ माना जाता है। अपरा विद्या के 6 ग्रंथ माने जाते है **जिन्हें 1– शिक्षा 2– कल्प 3– व्याकरण 4– निरूक्त 5– छंद तथा 6– ज्योतिष कहते** हैं।

प्रश्न 12. पराविद्या क्या है ?

उत्तर : जगत में दो प्रकार की विद्यायें हैं जिनका उल्लेख उपनिषदों में आता है। एक को अपरा विद्या कहा जाता है और दूसरे को परा विद्या कहा जाता है। अपरा विद्या में चारों वेदों अर्थात् ऋक्, साम, यजु, अथर्व तथा उपरोक्त शिक्षा कल्प व्याकरण निरूक्त छंद और ज्योतिष का उल्लेख होता है। वर्तमान में जितने भी विषय हैं जैसे भौतिक, रसायन, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, गणित आदि आदि इन सभी को अपराविद्या माना जाता है और पराविद्या में उपनिषद तथा षड़दर्शन अर्थात् ब्रह्मसूत्र, योगदर्शन, सांख्यदर्शन, मीमांसा दर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन और महाभारत महाकाव्य में उपस्थित श्रीमद्भगवद्गीता का विशेष रूप से उल्लेख होता है। जिन विषयों में सांसारिक विषयों का उल्लेख है उन्हें प्रमुख रूप से अपराविद्या कहते हैं और जिनमें परमात्मा के विषय में वर्णन किया गया है तथा उसके अनुभूति के उपायों की चर्चा है। उन ग्रंथों को पराविद्या का ग्रंथ मानना चाहिए।

प्रश्न 13. ब्रह्म क्या है ?

उत्तर : जो सत्ता इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की स्थिति तथा प्रलय करती है उस सत्ता को ब्रह्म कहा जाता है। परमात्मा, ईश्वर, भगवान आदि शब्दों को भी ब्रह्म के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। भगवान शब्द परमात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है देवताओं के लिए भी प्रयुक्त होता है तथा सिद्धपुरूषों, विशिष्ट वीतरागी पुरूषो के लिए भी प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न 14. पराविद्या के विशिष्ट ग्रंथ कौन से हैं ?

उत्तर : पराविद्या के तीन विशिष्ट ग्रंथ माने जाते हैं, जिन्हें 1–समस्त उपनिषद 2– भगवान वेदव्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन 3– भगवद्गीता जो महाभारत महाकाव्य का एक अंश है, यह तीन ग्रंथ पराविद्या के विशेष ग्रंथ हैं इनको प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है।

प्रश्न 15. ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्त दर्शन को पराविद्या का विशिष्ट ग्रंथ क्यों माना जाता है ?

उत्तर : भारतीय दर्शन के 6 प्रमुख ग्रंथ हैं, जिन्हें वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा तथा वैशेषिक कहा जाता है। वेदान्त दर्शन भगवान वेदव्यास द्वारा रचित है। सांख्यदर्शन की रचना भगवान कपिल ने की थी। योगदर्शन महर्षि पतंजलि की विशेष कृति है। न्याय दर्शन महर्षि गौतम ने लिखा था और मीमांसा दर्शन को भगवान वेदव्यास के शिष्य महर्षि जैमिनी ने लिखा। वैशेषिक दर्शन की रचना महर्षि कणाद द्वारा की गई थी। इन 6 दार्शनिक ग्रंथों में भगवान वेदव्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्त दर्शन को मनीषी लोग विशिष्ट और श्रेष्ठ ग्रंथ मानते हैं। इस कारण यह पराविद्या का विशिष्ट ग्रंथ है।

प्रश्न 16. पराविद्या के इन तीन ग्रंथों में विशिष्ट ग्रंथ कौन है ?

उत्तर : पराविद्या के तीन विशिष्ट ग्रंथों अर्थात् प्रस्थानत्रयी में श्रीमद्भगवद्गीता को मनीषियों ने उत्कृष्ट ग्रंथ माना है। उपनिषदों को वैदिक प्रस्थान कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र को दार्शनिक प्रस्थान कहते हैं और श्रीमद्भगवद्गीता को स्मार्त प्रस्थान कहा जाता है। उपनिषद परमात्मा की अप्रत्यक्ष वाणी है। ब्रह्मसूत्र महर्षि की वाणी है तथा श्रीमद्भगवद्गीता परमात्मा की प्रत्यक्ष वाणी है इस कारण सर्वोत्कृष्ट है।

प्रश्न 17. श्रीमद्भगवद्गीता का प्रकटीकरण कैसे हुआ ?

उत्तर : महाभारत युद्ध के आरम्भ के पूर्व अर्जुन को युद्ध में अपने स्वजनों को देखकर बहुत दुःख हुआ और उसके मन में विषाद उत्पन्न हो गया। उसने यह कहा कि स्वजनों बंधु बान्धवों को मारकर पृथ्वी के राज्य भोग का क्या औचित्य है? इस भावना से ग्रसित होकर अर्जुन ने युद्ध की इच्छा का त्याग कर दिया। तब भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देकर यथार्थतत्त्व का बोध कराया तथा उसे कर्तव्य कर्म की आज्ञा दी। भगवान श्रीकृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया उसको भगवान वेदव्यास ने संकलित कर लिया और अपने द्वारा रचित महाभारत महाकाव्य में अंकित कर दिया।

प्रश्न 18. श्रीमद्भगवद्गीता में किस विषय का निरूपण है? और उसके कितने अध्याय हैं ?

उत्तर : श्रीमद्भगवद्गीता में प्रमुख रूप से परमात्मा के गुण, स्वरूप, प्रभाव, कर्म आदि का निरूपण हुआ है तथा परमात्मा की अनुभूति के सहजसाधनों का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त अन्य विषयों का भी उल्लेख है। भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं जिन्हें **1– विषादयोग, 2–सांख्ययोग 3– कर्मयोग 4– ज्ञानकर्मसंन्यासयोग 5– कर्मसन्यासयोग 6– आत्मसंयमयोग 7–ज्ञानविज्ञानयोग 8– अक्षरब्रह्मयोग 9– राजविद्याराजगुह्ययोग 10– विभूतियोग 11– विश्वरूपदर्शनयोग 12–भक्तियोग 13–क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग 14–गुणत्रयविभागयोगो15–पुरूषोत्तमयोग16–दैवासुरसम्पद्विभागयोग 17–श्रद्धात्रयविभागयोग 18– मोक्षसंन्यासयोग** कहते हैं।

प्रश्न 19. भगवान वेदव्यास कौन थे ?

उत्तर : भगवान वेदव्यास अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे। उनका जन्म आज से लगभग पांच हजार वर्षो पूर्व महाभारतकाल में हुआ था। पौराणिक मान्यता के अनुसार उनकी मृत्यु नहीं हुई है और वे चिरजीवी हैं। वर्तमान में अपने योगबल के आधार पर अपने मंडल आश्रम में स्थित हैं तथा अग्रिम मनवंतर में विशिष्ट पद पर विभूषित होंगे। भगवान वेद व्यास का साक्षात्कार आदि शंकराचार्य से हुआ था, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। आद्य शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए भाष्य पर भगवान वेदव्यास ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी इससे लगता है कि भगवान वेदव्यास अब भी जीवित हैं। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत युद्ध देखने के लिए धृतराष्ट्र के मंत्री संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। महर्षि वेदव्यास के पांच प्रमुख कार्य हैं, जिनके कारण हम सभी उनके ऋणी हैं। वैदिक सनातन धर्म के आधारभूत ग्रंथों की रचना का कार्य उन्होंने किया। उनके विशिष्ट कार्यो में वेदों का विषयानुसार विभागपूर्वक संकलन, दार्शनिक प्रमुख ग्रंथ वेदान्तदर्शन की रचना तथा विश्व का विशालतम महाकाव्य महाभारत की रचना, 18 पुराणों की रचना करना कहा जाता है।

महर्षि वेदव्यास ने समस्त वेदों को विषयानुसार विभाजित करके ऋक्, साम, यजु तथा अथर्व के स्वरूप में प्रकट किया और अपने चार शिष्यों को इसका ज्ञान कराया। ऋग्वेद का ज्ञान अपने शिष्य महर्षि पैल को कराया। सामवेद का ज्ञान महर्षि वैशम्पायन को कराया। यजुर्वेद का ज्ञान महर्षि जैमिनी को कराया तथा अथर्ववेद का ज्ञान महर्षि सुमन्तु को कराया। इस प्रकार वेदों की ज्ञान की परम्परा आगे बढ़ सकी। वेदव्यास का दूसरा प्रमुख कार्य दार्शनिक ग्रंथ ब्रह्मसूत्र की रचना है। इसे वेदान्तदर्शन कहा जाता है। चार अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में ब्रह्म के कार्य, स्वरूप, प्रभाव, गुण तथा अनुभूति के उपायों पर विशेष चर्चा हुई है। वेदों के तत्त्व का निरूपण होने के कारण इसे वेदान्त दर्शन कहते हैं। इस दार्शनिक ग्रंथ को समस्त दार्शनिक ग्रंथों में विशेषता प्राप्त है। इस दार्शनिक ग्रंथ पर अनेक प्रकाण्ड विद्वानों और आचार्यो ने टीकाऐ की हैं तथा अपने मतों का उल्लेख किया है।

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत महाकाव्य की रचना की, जिसमें 18 पर्व तथा 100 उप पर्व अर्थात् 18 अध्याय और सौ उप अध्याय हैं। यह ग्रंथ एक लाख श्लोकों वाला है। महर्षि वेदव्यास ने इस विशालतम ग्रंथ में विश्व के समस्त विषयों को निरूपित किया है। ऐसा माना जाता है कि इसका लेखन भगवान श्रीगणेश ने किया था और इसमें विश्व के समस्त विषयों को समाहित कर दिय गया। ऐसा कोई विषय विश्व में नहीं है जो इस ग्रंथ की विषय वस्तु में न हो। यह विशिष्ट ग्रंथ आज उपलब्ध है और इसे पंचम वेद की मान्यता प्राप्त है। चूंकि वेदों का संकलन भी महर्षि वेदव्यास ने किया था तथा उसे चार भागों में विषयानुसार विभाजित करके चार संहिताओं का निर्माण किया था इसलिए महर्षि वेदव्यास वेदों के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने वेदों के समग्र विषयों को और तत्त्व को महाभारत महाकाव्य में उल्लिखित किया है। इसके अध्ययन के पश्चात् मनुष्य को पर्याप्त शास्त्रीय ज्ञान हो जाता है।

उक्त के अतिरिक्त महर्षि वेदव्यास ने 18 पुराणों की रचना की। इन पुराणों में भी अनेक कथाओं के माध्यम से अनेक विषयों का निरूपण किया गया है। इस समग्र पुराणों की श्लोक संख्या 4 लाख है। इन पुराणों के अध्ययन से भी मनुष्य को पर्याप्त शास्त्रीय ज्ञान हो जाता है। श्रीमद्भागवत को इन पुराणों में श्रेष्ठता प्राप्त है, इसलिए श्रीमद्भागवत को महापुराण भी कहा जाता है। इन पुराणों के नाम हैं। 1– ब्रह्मपुराण, 2– पद्यम्पुराण, 3– विष्णुपुराण 4–शिवपुराण 5–लिंग पुराण, 6–गरूण पुराण 7– नारद पुराण, 8– भागवत पुराण, 9– अग्निपुराण 10– स्कंद पुराण 11– भविष्य पुराण 12– ब्रह्मवैवर्त पुराण 13– मार्कण्डेय पुराण 14– वामन पुराण 15– वाराह पुराण 16– मत्स्य पुराण 17– कूर्म पुराण 18– ब्रह्माण्ड पुराण। ऐसी मान्यता भी है कि उक्त पुराणों की रचना महर्षि वेदव्यास के शिष्यों द्वारा भी की गई है। चूंकि यह प्राचीनतम विषय है इसलिए इस सम्बंध निश्चित रूप से कुछ कहा जा पाना संभव नहीं है।

इस प्रकार महर्षि वेदव्यास ने वैदिक सनातन धर्म के ग्रंथों का पुनः उद्धार किया तथा जो भी लेखन कार्य किया वह किसी एक व्यक्ति के द्वारा किया जा पाना संभव नहीं है। इसलिए महर्षि वेदव्यास का समग्र मानव जाति ऋणी है।

प्रश्न 20. शास्त्रों के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : शास्त्रों के अध्ययन से हम सभी को मनुष्य जीवन के उद्देश्य, कर्तव्य कर्म, आचरण, व्यवहार, सामाजिक मूल्यों तथा धर्म अधर्म के अंतर का ज्ञान हो जाता है तथा हम जीवन के उद्देश्य को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, इस तथ्य का भी ज्ञान हो जाता

है। इसलिए सभी मनुष्यों के लिए यह यथेष्ट है कि वह शास्त्रों का नियमित अध्ययन करें। उचित तो यह होगा कि सांसारिक विधाओं के साथ–साथ सभी छात्रों को शास्त्रों का अध्ययन अवश्य ही कराया जाना चाहिए।

प्रश्न 21. शास्त्रों के अध्ययन न करने से हानि क्या है ?

उत्तर : शास्त्रों के अध्ययन से शास्त्रों के विषयों का ज्ञान हमें नहीं हो पाता है। हमें क्या करना चाहिए ? और हमें क्या नहीं करना चाहिए ? इस तथ्य का सही सही बोध न होने के कारण हम अपने जीवन में अनेक भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों को स्थापित कर लेते हैं। अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर विकर्म को कर्म समझ कर जीवन में स्वेच्छाचारी अर्थात् मनमाने ढंग से आचरण करते रहते हैं। हम समाज में जो मनमाना आचरण करते हैं उस सबका परिणाम हमें पाप के रूप में प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य का अंततः पतन हो जाता है। शास्त्रों के अध्ययन न करने से मनुष्य जब मनमाना आचरण करता है तो इसको इस जन्म में अनेक प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है और मृत्यु के पश्चात् अनेक नारकीय योनियों में घूमना पड़ता है। शास्त्रों के अध्ययन न करने से मनुष्य में यह विचार दृढ़ नहीं हो पाता कि हम किसी सत्ता के अधीन है अथवा नहीं है। हम सभी मानव मात्र एक सत्ता के अधीन रहकर कार्य करते हैं। स्वतंत्र नहीं है। इसीलिए हम समय से मृत्यु को प्राप्त हो जाते है तथा एक निश्चित समय तक जीवित रहते हैं। शास्त्रों के अध्ययन न करने से मनुष्य का निश्चित पतन हो जाता है।

प्रश्न 22. शास्त्रों की असीमित संख्या है। मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त उनकी टीकाऐं एवं भाष्य भी असंख्य हैं। इस कारण किन किन ग्रंथों के अध्ययन से हमें जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान हो जाता है तथा संशय से पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।

उत्तर : हमें यथा संभव अपनी सामर्थ्य के अनुसार अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए तथा उनसे जीवन के मूल्यों को जानने का प्रयास करना चाहिए। हम शास्त्रों का जितना भी अध्ययन करते हैं उससे हमारा अज्ञानरूपी अंधकार छंटता जाता है और समाप्त होता जाता है तथा हमारा ज्ञान प्रकट हो जाता है। शास्त्रों के अध्ययन से जीवन रूपी यात्रा के लिए जो आवश्यक ज्ञान प्राप्त होता है उसे सदैव संचित कर लेना चाहिए। शास्त्रों के अध्ययन में यदि कोई प्रतिकूल तथ्य उपस्थित हो जाए तो साधु पुरूषों से निवेदन करके उस संशय का निराकरण करना चाहिए, क्योंकि साधु पुरूषों को शास्त्रों का विशेष ज्ञान

होता है। इसलिए मनुष्य को जितना संभव हो सकें उतना शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न 23. किसी एक शास्त्र का नाम बताये जिसके अध्ययन से तत्काल लाभ होता है तथा संशय की निवृत्ति शीघ्र हो जाती है।

उत्तर : श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् ब्रह्मवाणी के रूप में उपलब्ध अद्वितीय ग्रन्थ रत्न है। इसके पाठ, पठन, पाठन और सहित भावों को समझ कर, श्लोकों के अर्थ पर विचार और चिंतन करने से विशेष रूप से आश्चर्यप्रद लाभ होता है। जितना अन्य शास्त्रों के अध्ययन से नहीं होता। श्री गीता जी के श्लोकों के पाठ में भी विशेष शक्ति है। इसका एक कारण है कि इसमें वेदों, वेदों के ज्ञानकाण्ड उपनिषदों तथा दार्शनिक ग्रंथों, स्मृतियों और पौराणिक ग्रंथों के सार को संग्रहित कर दिया गया। हमे यदि गीताजी के ज्ञान का बोध हो जाता है तो हमें अन्य शास्त्रों के सैद्धान्तिक मौलिक ज्ञान का सरलतापूर्वक बोध हो जाता है। हम जब अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते हैं तो उसका मिलान गीताजी के सिद्धान्तों से करने पर यह तथ्य स्वतः ही स्पष्ट होता है और अनेक प्रकार के शास्त्र सम्बंधी संशयों का निवारण हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा अनुपम और दिव्य शास्त्र है जिसका हमें निश्चित रूप से अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न 24. भगवद्गीता मूल संस्कृत भाषा में है तथा उस पर अनेक महापुरूषों ने भाष्य एवं टीकाऐं लिखी हैं। इस कारण इसका किस प्रकार अध्ययन करना चाहिए ?

उत्तर : भगवद्गीता के ज्ञान के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान होना अत्यंत लाभकारी है। वैसे श्रीगीताजी की संस्कृत भाषा सरल एवं शीघ्र बोधगम्य है जो पाठ से सहजता से ग्राहय हो जाती है। भगवद्गीता पर आद्य शंकराचार्य ने विशिष्ट भाष्य किया था, जिसे सर्वाधिक प्रमाणिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त भगवान रामानुज आचार्य, संत ज्ञानेश्वर, महर्षि अरविन्द, बाल गंगाधर तिलक, श्री जयदयाल गोयन्दका, स्वामी रामसुखदास जी, शील प्रभुपाद आदि आदि महापुरूषों ने विस्तार से भाष्य किये हैं। सभी के भाष्य परम आदरणीय हैं। श्री गीताजी के अर्थ को समझने के लिए सभी भाष्यों का हम अध्ययन कर सकते हैं। चूंकि प्रत्येक पूज्य भाष्यकार ने अपने अपने ज्ञान और मत के अनुसार श्री गीताजी पर भाष्य लिखे हैं। उक्त के अतिरिक्त भी अनेक महापुरूषों ने गीता जी पर पुस्तकें और टीकायें लिखी हैं। जिनके अध्ययन से बहुत आध्यात्मिक लाभ होता है। हमें श्री गीताजी के श्लोकों का अध्ययन करना चाहिए। पाठ करके उसको कठंस्थ करने का प्रयास करना चाहिए। मूल

श्लोकों के अर्थ पर विचार, चिंतन, गहन मंथन आदि करना चाहिए और श्रीभगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि वे श्री गीताजी के ज्ञान का प्रकटीकरण हमारे अंतःकरण में करें। ऐसा करने से श्री भगवान हमारे अंतःकरण में श्री गीताजी के वास्तविक भाव को प्रकट कर देते हैं और हमें श्री गीताजी के अथाह ज्ञान से कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे हमारा कल्याण हो जाता है। वस्तुतः श्री गीता के ज्ञान का मुख्य उद्देश्य ही मनुष्य के कल्याण से सम्बंधित है, इसलिए हमें पूज्यभाष्कारों द्वारा रचित भाष्य एवं टीकाओं का अध्ययन तो करना ही चाहिए परन्तु साथ–साथ श्री गीताजी के मूल श्लोकों पर भी श्री भगवान का आश्रय लेकर चिंतन मनन करना चाहिए। ऐसा करने से श्री भगवान हमारी मन और बुद्धि में श्री गीता ज्ञान को प्रकट कर देते हैं और हमें अज्ञानरूपी अंधकार से निवृत कर देते हैं।

प्रश्न 25. श्री भगवान गीता ज्ञान के अर्थ को विचार में कैसे प्रकट करते हैं ?

उत्तर : श्री भगवान प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नित्य निरन्तर विराजमान हैं। इस कारण अव्यक्त रहकर भी वे नित्य व्यक्त रहते हैं। जब कोई भी मनुष्य श्री भगवान का पुनः पुनः स्मरण करता है तो वे हमारे मन में उस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करते हैं। आपने आभास किया होगा कि कभी कभी कोई विचार हमारे मन में अनायास ही आ जाता है यह विचार कैसे आ जाता है ? इस तथ्य को हम सामान्य रूप से जान भी नहीं पाते परन्तु वह कहीं से अवश्य आया है ऐसा स्पष्ट है। यह क्रिया किसी के द्वारा अवश्य सम्पन्न करायी जाती है जिसे हम जान नहीं पाते हैं। वैसे श्री गीताजी के अर्थ के बारे में हम जब कोई प्रश्न श्री भगवान से करते हैं तो उसका उत्तर श्री भगवान हमारे विचारों में प्रकट कर देते हैं। इसका साधक को स्पष्ट आभास होता हैं। हम श्री गीताजी के कठिन श्लोकों के अर्थ को सही सही रूप में जानना चाहते हैं तो हमें श्रीभगवान की शरण अवश्य ग्रहण करनी चाहिए।

प्रश्न 26. भगवद्गीता के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : यथासंभव अन्य शास्त्रों के अध्ययन की भी आवश्यकता है। साथ ही वेदों, उपनिषदों, दार्शनिक ग्रंथों, पौराणिक ग्रंथों और महाभारत महाकाव्य का भी अध्ययन हमें करना चाहिए, क्योंकि गीता जी के ज्ञान में अनेक तथ्यों का वर्णन हुआ है, उनको समझने के लिए अनेक प्रकार के शास्त्रों की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए हमें श्री गीताजी के साथ–साथ अन्य शास्त्रों का भी अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न 27. भगवद्गीता में वर्णित विषयों का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

उत्तर : भगवद्गीता में वर्णित विषयों के दो प्रमुख उद्देश्य हैं 1– फल की इच्छा तथा आसक्ति का त्याग करके न्याय से उपार्जित धन से सुखपूर्वक जीवन जिया जाए तथा अपने न्यायसंगत उपार्जित धन को यथासंभव परमार्थिक कार्यो में लगाया जाए। 2– परमात्मा की अनुभूति करके मनुष्य जीवन के इस परम पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर लिया जाए। इसमें पहला उद्देश्य तो गौण है परन्तु दूसरा उद्देश्य मुख्य है। जो लोग दूसरे उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं उन्हें पहले उद्देश्य की स्वतः प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि दूसरा उद्देश्य प्रमुख होने के कारण दूसरे उद्देश्य की स्वाभाविक उपलब्धि हो जाना ही मूल है।

प्रश्न 28. फलेच्छा का त्याग क्या है ? और फलेच्छा का त्याग आवश्यक क्यों है?

उत्तर : सामान्य मनुष्य जो भी कर्म करता है उसे वह फल की इच्छा से ग्रसित होकर करता है। सामान्यतः हम प्रत्येक कर्म करने से पूर्व उसके फल के बारे में अवश्य ही विचार कर लेते हैं। कर्म के पूर्व फल पर दृष्टि रहती है, परन्तु मनुष्य के अधिकार क्षेत्र में कर्मो का सम्पादन है। फल की उपलब्धि उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर का विषय है। यह परमात्मा के अधिकार क्षेत्र में आता है। अर्थात् मनुष्य को कर्म करने का अधिकार तो है परन्तु उसके फल का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है। इसलिए हम जो भी शुभ अशुभ तथा शुभाशुभ कर्म करते हैं उसके फल को उपलब्ध कराना परमात्मा का कर्तव्य है। परमात्मा अपने इस कर्तव्य का सम्यक्रूपेण निर्वहन करता है। इस कारण फल की इच्छा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम फल की इच्छा करने पर भी और न करने पर भी अपने कर्म का फल अवश्य प्राप्त करते हैं। साधक में जब फल की इच्छा का अभाव हो जाता है तो उसके कर्म सिद्ध हो जाते हैं तथा आसक्ति व सुख की आकांक्षा से परे हो जाते हैं। इस कारण हमें अपने कर्मो में सदैव ही फल की इच्छा का त्याग करना चाहिए। फल की इच्छा करने से इच्छित फल हमें प्राप्त नहीं होता है वरन् कर्म करने से हमें इच्छित फल की स्वतः उपलब्धि हो जाती है। इसलिए फल की इच्छा का सदैव त्याग हमें रखना ही चाहिए।

प्रश्न 29. आसक्ति क्या है ? तथा उसका त्याग कैसे होता है ?

उत्तर : मनुष्य सामान्यतः दो प्रकार की आसक्तियों से बंधा रहता हैं। 1– सांसारिक वस्तुओं तथा पदार्थो की आसक्ति से और 2– अपने तथा अपनों की सुखेच्छा की आसक्ति से। यह दोनों प्रकार की आसक्ति मनुष्य में अनेक प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को एकत्र

करने की इच्छा प्रकट कर देती हैं और उसके लिए मनुष्य को बहुत परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि उसे वस्तुओं में सुख की प्रतीति का मिथ्या आभास रहता है। हम अपने जीवन में अनेक प्रकार की वस्तुओं को एकत्र करते हैं। हम यह विचार करें कि उन वस्तुओं के एकत्र करने का उद्देश्य क्या है ? गहनतापूर्वक विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि उन वस्तुओं से हम सुख की कल्पना करते हैं। यद्यपि समस्त वस्तुऐं विनाशशील हैं वे सब समय के साथ समाप्त होने वाली हैं, फिर भी हम उनमें सुख प्राप्त करना चाहते हैं।

सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करने में मनुष्य को बहुत श्रम करना पड़ता है तथा साथ ही अनेक प्रकार के नैतिक और अनैतिक कर्म भी करने पड़ते हैं। इसीलिए हम सांसारिक वस्तुओं की हानि, विनाश में और उनके विनाश की संभावना में बहुत दुःखी होते हैं तथा उनकी प्राप्ति में हमें सुख का आभास होता है। यह आसक्तिरूप दोष के कारण ही होता है। हम अपनी वस्तुओं को अन्य लोगों को नहीं देना चाहते हैं और अपनी वस्तुओं को दूसरों के उपभोग के लिए देने की इच्छा नहीं करते हैं। यह तथ्य आसक्तिरूप दोष के कारण ही प्रबल रहता है। यदि आसक्तिरूप दोष न होता अथवा हम आसक्तिरूप दोष का विनाश कर दें तो भी हम अपनी वस्तुओं को अन्य लोगों को देने की इच्छा करेंगे।

इसी प्रकार हमें अपने सुख के लिए तथा अपने से सम्पर्कित लोगों के सुख के लिए बहुत कुछ एकत्र करना चाहते हैं और एकत्र करने का प्रयास भी करते हैं। हम उन्हें सुख पहुंचाने का प्रयास करते हैं क्योंकि हमें भी उनसे सुख की आकांक्षा रहती है और सुख का आभास होता है। इस कारण जब वह दुःखी होते हैं तब हम भी दुःखी हो जाते हैं और जब वे सुखी होते तब हम स्वयं भी सुख का आभास करते हैं। यहीं सम्पर्कित लोगों की आसक्ति है। यद्यपि हम यह जानते हैं कि जो भी हमारे सम्पर्कित हैं वे भी समय के साथ समाप्त होने वाले हैं फिर भी हम उनमें आसक्त रहते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु विनाशशील है। हमारे पास जो भी है वह सबका सब दूसरों के हित और कल्याण में लगायें तो वस्तुओं की आसक्ति का समापन हो सकता है। हमारे सम्पर्कित लोग समय के साथ समाप्त होने वाले हैं और हमें जो सुख प्राप्त होता है वह भी समय के साथ समाप्त होने वाला है। जब यह भाव दृढ़ हो जाता है तो हमारा सम्पर्कित लोगों के प्रति आसक्ति का भाव समाप्त हो जाता है। यही आसक्ति का परित्याग है।

प्रश्न 30. दूसरों के हित अर्थात् परमार्थ के लिए कर्म करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : प्रत्येक मनुष्य के दो प्रकार के उत्तरदायित्व हैं। एक व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और दूसरा सामूहिक उत्तरदायित्व। प्रथम प्रकार के उत्तरदायित्व में उसे अपने तथा परिवार

और सम्पर्कित लोगों के भरण पोषण, शिक्षा व्यवस्था, धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने का दायित्व है। इसके अतिरिक्त समाज की निःस्वार्थ सेवा, समाज के लोगों के लिए शिक्षा, चिकित्सा, भोजन आदि की व्यवस्था के लिए कर्म करना तथा ऐसे अनुष्ठानों का आयोजन करना जिससे समाज का नैतिक उत्थान हो । इसी को सामूहिक उत्तरदायित्व कहते हैं। हम दोनों प्रकार के उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए यदि कर्म नहीं करते हैं तो हमें पाप की प्राप्ति होती है। जैसे हम बड़े प्रयास से बहुत सा धन एकत्र कर लें और उसका उपयोग अपने हितार्थ करें तो यह सामूहिक उत्तरदायित्व के निर्वहन से पृथक् रहने का कार्य है जिससे हम पाप के भागी होते हैं। सामूहिक दायित्व की पूर्ति हेतु कर्म करने के लिए प्रत्येक मनुष्य बाध्य है और उसका यह कर्तव्य कर्म है। इस प्रकार दोनों प्रकार के दायित्वों का निर्वहन मनुष्य को करना चाहिए और ऐसा करने से वह पुण्य का भागी होता है और न करने से पाप में सहभागिता होती है। एक तथ्य यहां पर और स्पष्ट करना है कि हम यदि समाज में ऐसे कृत्यों का सम्पादन करते हैं जिससे समाज में नैतिकता का ह्रास, पतन आदि होता है तो हम अपने सामूहिक उत्तरदायित्व का दुरुपयोग करते हैं। मनुष्य को ऐसे कार्य कदापि नहीं करते चाहिए जिससे समाज में अव्यवस्था फैले और समाज के लोग अनेक प्रकार के असमाजिक और अवैधानिक कार्य करने लगें। आज यह प्रचलन बढ़ रहा है कि जो लोग समाज में धन, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि आदि से सम्पन्न हो गए हैं अथवा कला के क्षेत्र में हैं वे धन, पद, प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के ऐसे कृत्यों का सम्पादन कर रहे हैं। इससे समाज में अव्यवस्था फैलती जा रही है और लोगों का नैतिक पतन हो रहा है तथा अनैतिकता की वृद्धि हो रही है। ऐसे सामूहिक उत्तरदायित्व के कृत्यों से हमें घोर पाप लगता है। जिसका परिणाम हमारा निश्चितरूपेण पतन और विनाश है, क्योंकि परमात्मा की सत्ता सर्वत्र है और हम उसकी सत्ता और व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। हमें निश्चितरूपेण से परमात्मा के अस्तित्त्व और सत्ता को स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न 31. परमात्मा के अस्तित्त्व की स्वीकार्यता हेतु हम बाध्य क्यों हैं ?

उत्तर : परमात्मा का अस्तित्त्व है, निश्चित है, संशयरहित है। उसकी सत्ता निश्चित है, संशयरहित है और अपरिवर्तनीय है। जब इस तथ्य को स्वीकार करने की आवश्यकता पर हम विचार करते हैं तो बहुत से प्रश्न स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। इन प्रश्नों पर विचार करने से ही हमें परमात्मा की सत्ता का बोध हो जाता है और उसकी सत्ता की स्वीकार्यता अनिवार्य प्रतीत होती है। इस सम्बंध में हमें कुछ तथ्यों पर विचार करना चाहिए। हम जन्म से पूर्व क्या थे ? हम जन्म के पूर्व कहां थे ? हमारी जन्म के पूर्व क्या स्थिति थे ? हम

जन्म से पूर्व किस लोक में थे ? हम जन्म से पूर्व किस योनि में थे? आदि आदि तथ्यों की हमें संज्ञानता नहीं है। हमें इस सम्बंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् हम कहां जायेंगे ? क्या होंगे ? किस लोक में हमारा वास होगा ? हमारी क्या गति होगी ? हम क्या बन जायेंगे? आदि आदि तथ्यों की जानकारी हमें नहीं है। यह तथ्य परमात्मा के अस्तित्त्व और उसकी सत्ता को स्वीकार करने हेतु हमें बाध्य करता है। इसी प्रकार हमारी मृत्यु निश्चित है। जीव माता गर्भ में कहां से आता है ? सूर्य और चन्द्रमा समयानुसार उदय और अस्त कैसे होते हैं? ऋतुऐं स्वतः ही परिवर्तित हो जाती हैं? वनस्पतियों का विकास किस प्रकार होता है? आदि आदि तथ्यों पर यदि हम विचार करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि परमात्मा का अस्तित्त्व है। उसकी सत्ता है और उसकी सत्ता की स्वीकारोक्ति के लिए हम बाध्य हैं। हम अपने शरीर के क्षय तथा विनाश को रोक नहीं पाते हैं और समय के साथ मृत्यु को निश्चित रूप से प्राप्त होते हैं। यह तथ्य भी हमें परमात्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार करने हेतु बाध्य करता है। हमें उस परमात्मा का अस्तित्त्व और उसकी सत्ता को निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि हम उसकी सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं।

प्रश्न 32. परमात्मा की अनुभूति के कर्मयोग साधन पर पूर्व में चर्चा हुई थी ज्ञानयोग, भक्ति योग तथा ध्यानयोग साधन क्या हैं ? परमात्मा की अनुभूति करना सहज है अथवा कठिन है ?

उत्तर : ज्ञानयोग साधक को यह मानना पड़ता है कि कोई भी कर्म मेरे द्वारा नहीं किया जाता है। प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा ही सम्पादित किया जा रहा है। अर्थात् गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। ऐसा मानने से मनुष्य को कर्तापन के अभिमान से अंततः मुक्ति प्राप्त हो जाती है। समस्त क्रियाऐं प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा ही होती हैं। मनुष्य क्रियाओं का कर्ता नहीं है। इस भाव से दृढ़ रहना ज्ञानयोग साधन है। यह साधन इस कारण सहज नहीं है क्योंकि मनुष्य जो भी कर्म करता है उसमें अपने को कर्ता मान लेता है। यही ज्ञानयोग साधन में मुख्य अवरोध है।

ध्यानयोग साधन में चित्त की समस्त वृत्तियों को संयमित करना पड़ता है। सांसारिक वृत्तियां जब तक रहती हैं तब तक मनुष्य संसार के विषय में ध्यान किया करता है और जब सांसारिक वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं तो मनुष्य का ध्यान स्वतः और स्वाभाविक रूप से परमात्मा की ओर पहुंच जाता है। वायु की हलचल से रहित स्थान में दीपक की ज्योति की जो स्थिति होती है वह ध्यान योगी के चित्त की कही जाती है।

ध्यानयोगी स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। यही ध्यान की पराकाष्ठा है। संसार से ध्यान समग्रता से हटे और वह ध्यान परमात्मा में पूर्णरूपेण समाहित हो जाए तो इसी साधन को ध्यानयोग साधन कहा जाता है। मनुष्यों ने ध्यान के अनेक उपाय बताऐ हैं। इसमें महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगदर्शन ग्रंथ विशिष्ट ग्रंथ माना जाता है, जिसमें अष्टांग योग की चर्चा प्रमुख रूप से की गई है।

भक्तियोग साधन में संसार के प्रति स्नेह को समाप्त करके परमात्मा के प्रति स्नेह को उपार्जित करना पड़ता है। जैसे संसार में हमारा किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति स्नेह चरम सीमा पर होता है। जब यह स्नेह परमात्मा के प्रति चरम सीमा पर पहुंच जाता है तो इसे भक्तियोग साधन मानना चाहिए। संसार का स्नेह समाप्त हो और परमात्मा का स्नेह बढ़े इसी को सामान्य रूप से भक्ति कहा जाता है। इस साधन को भक्तियोग की संज्ञा दी जाती है। भक्तियोगी साधक को संसार के स्नेह का परित्याग करना यथेष्ट है और इसमें संसार की विस्मृति करनी पड़ती है। जैसा हम संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों को प्राप्त होने के लिए व्याकुल होते हैं वहीं व्याकुलता यदि परमात्मा के सम्बंध में उपस्थित हो जाए तो इसकी चरम सीमा पर हमें उस परमात्मा की अनुभूति अवश्य होती है। यही भक्तियोग साधन की विशेषता है।

उत्कृष्ट साधकों के लिए परमात्मा की अनुभूति सहज है और निकृष्ट साधकों के लिए परमात्मा की अनुभूति अत्यंत कठिन कार्य है। जो साधक परमात्मा की अनुभूति करने वाले साधनों में संसार का आश्रय लिए रहते हैं, उनके लिए परमात्मा की अनुभूति कठिन रहती है और जो साधक संसार के आश्रय का त्याग कर देते हैं और एक मात्र श्री भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं तो उनके लिए परमात्मा की अनुभूति सहज हो जाती है। परमात्मा की अनुभूति के लिए संसार की अनुभूति से हमें पूर्णरूपेण निवृत होना पड़ता है। हम जब सांसारिक भोगों, इन्द्रिय अर्थो में अपना सम्बंध रखते हैं तब तक हमें परमात्मा की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती है। इन उपरोक्त तथ्यों से हम परमात्मा की अनुभूति की सहजता और कठिनता का अनुमान लगा सकते हैं। हम यदि साधक हैं तो हमें परमात्मा की अनुभूति कठिनता और सहजता का स्वतः ही अनुमान रहता है।

प्रश्न 33. परमात्मा की अनुभूति का सहज साधन क्या है ?

उत्तर : परमात्मा की अनुभूति का सहज साधन अनेक महापुरूषों ने अपने अपने अनुसार व्याख्यापित किया है, क्योंकि परमात्मा की अनुभूति का सहज साधन परमात्मा के नाम का निरन्तर अर्थात् अंतररहित जप है और इस जप में मन और बुद्धि को परमात्मा में समाहित

करना पड़ता है। इसलिए वाणी, मन और बुद्धि तीनों जब परमात्मा के जप और स्वरूप के चिंतन में एकरूप हो जाते हैं तो हमें परमात्मा की अनुभूति होने लगती है। यही परमात्मा की अनुभूति का सर्वाधिक सहज साधन है। इस स्थल पर एक तथ्य और स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि मन और बुद्धि से परमात्मा के संदर्भ में चिंतन नहीं किया जा सकता तथा हमारी आंखे भी उस परमात्मा के स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकती और वाणी परमात्मा के स्वरूप को व्याख्यापित नहीं कर सकती, परन्तु जब वाणी, मन और बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में एकाकार हो जाती है तो परमात्मा अपनी स्थिति का स्वयं ही साधक को आभास करवा देता है।

प्रश्न 34. परमात्मा का क्या नाम है? तथा उसका अंतर रहित जप कैसे होता है?

उत्तर : ॐ तत्सत् परमात्मा का विशिष्ट नाम है। यही सभी प्रकार के उपासकों के लिए सर्वमान्य है। इसमें सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार का कोई संशय नहीं है। इस कारण सर्वमान्य को स्वीकार करके इसे परमात्मा का विशिष्ट नाम मान लेना चाहिए। मनीषियों ने परमात्मा के सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार स्वरूप को लेकर अनेक नामों की रचना की है। इसमें विशिष्ट नाम अर्थात् निर्देश की महत्ता नहीं है, परन्तु भाव की विशिष्टता है। कोई नाम लेने से उसका भाव परमात्मा की ओर हो तो वह परमात्मा का ही नाम हो जाता है। जैसे हम संसार में किसी व्यक्ति का जो नाम रख देते हैं उस नाम से पुकारने पर वह व्यक्ति यह जान लेता है कि हमें पुकारा जा रहा है। इस कारण ॐ तत्सत् नाम तो परमात्मा का विशिष्ट नाम है, परन्तु परमात्मा को आप किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। यहां मात्र भावना की प्रधानता होनी चाहिए। हम जो परमात्मा को पुकार रहे हैं, इसमें हमारी भावना परमात्मा की ओर है अथवा नहीं है। इस प्रकार उसका नाम भावना प्रधान अधिक है।

परमात्मा के नाम के जप का प्रयास जब चलता है तो संसार के क्रियाकलाप उसमें बाधा उत्पन्न करते हैं। हम नाम जब चाहें पूजा काल में करें अन्य सांसारिक कर्मो में करते हुए करें तो उसमें प्रमुख बाधा सांसारिक विषय ही उत्पन्न करते हैं। इस कारण हमें पुनः पुनः नाम जप का प्रयास करना पड़ता है। यह नाम जप की क्रिया जागृत अवस्था में प्रत्येक समय हो इसके लिए हम प्रयास करते हैं कि वह समाप्त न हो। आरम्भ में नाम जप में बाधाऐं आती हैं परन्तु धीरे–धीरे प्रयास करने पर जप निरन्तरता की ओर अग्रसर होता है। इसका लक्षण यह है कि हमें नाम जप न करते समय यह आभास होता है कि हम कुछ भूल रहे हैं। किसी विषय की विस्मृति हो रही है। पुनः स्मरण आते ही हमें नाम जप आरम्भ

करना चाहिए। यह पुनः पुनः प्रयास से स्वतः स्वाभाविक रूप से होता है। किसी भी प्रकार के सांसारिक कर्म को करते रहने पर भी नाम जप होता रहता है। इस प्रकार नाम जप में निरन्तरता आती है। जब प्रातः से लेकर अर्थात् जागने के समय से सोने के समय तक नाम जप जारी रहता है तो रात्रि में भी जो स्वप्न आते हैं वह भी सुखद ही आते हैं। इस प्रकार के जागृत अवस्था में किये गए नाम जप से हमें बहुत आध्यात्मिक लाभ होता है। इसलिए नाम जप को निरन्तर करने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न 35. मन तथा बुद्धि का परमात्मा में अर्पण कैसे होता है ?

उत्तर : मन की वृत्ति अर्थात् कार्य को संकल्प कहा जाता है तथा बुद्धि की वृत्ति अर्थात् कार्य विकल्प कहा जाता है। चंचल तथा प्रमथनशील मन नित्य निरन्तर सांसारिक विषयों का विचारण किया करते हैं। उठते बैठते चलते फिरते लेटते आदि सभी अवस्थाओं में मन के द्वारा विचारण का कार्य चलता रहता है। मन के द्वारा विचारित विषयों को बुद्धि देखती रहती है तथा उसमें सहमति भी अधिकांशतः व्यक्त करती है। कभी कभी मन के द्वारा विचारित विषयों से बुद्धि अपनी असहमति व्यक्त करती है। यह स्थिति कम ही होती है। इस प्रकार मन तथा बुद्धि नित्य निरन्तर सांसारिक विषयों में घूमा करते हैं, रमते हैं। मन तो घूमता ही है ओर बुद्धि को भी घुमाता है। बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों का अनुकरण करती रहती है।

संसार के विषयों का मन के द्वारा विचारण तथा उनका बुद्धि के द्वारा विनिश्चय होता रहता है। यह संसार में मन तथा बुद्धि का अर्पण कहा जाता है। मन जब संसार के विषयों को त्याग कर परमात्मा के स्वरूप, गुण, प्रभाव, कर्म, आदि के बारे चिंतन करता है और बुद्धि के द्वारा उन विचारों का विनिश्चय होता है तब मन तथा बुद्धि का परमात्मा में अर्पण होना कहा जाता है। मन स्वभावतः संसार की ओर उन्मुख रहता है और सांसारिक विषयों की ओर भागता है। जिस प्रकार जल ढलान की ओर बहता है उसी प्रकार मन की विचारण प्रक्रिया संसार की ओर उन्मुख हो जाती है। उसे परमात्मा में संलग्न करने के लिए हमें अभ्यास करना पड़ता है। यह अभ्यास तभी सफल होता है जब हम यह निश्चित कर लें कि संसार के चिंतन को करना हमारे लिए कल्याणप्रद नहीं है। ऐसा भाव दृढ़ होने पर संसार के विषयों से घृणा हो जाती है।

सांसारिक विषयों से घृणा होने को ही वैराग्य कहा जाता है। जब तक सांसारिक विषयों के प्रति घृणा नहीं होती है, तब तक अभ्यास भी सफल नहीं हो सकता है। हम सांसारिक विषयों में घृणा बुद्धि करके उससे सम्बंधित विचारण तथा विनिश्चय को समाप्त

कर सकते हैं और जब तक संसार का विनिश्चय विचारण होता रहेगा तब तक परमात्मा के स्वरूप, गुण, प्रभाव, कर्मो आदि का विचारण व विनिश्चय नहीं हो सकेगा। मन, बुद्धि या तो संसार का विचारण विनिश्चय कर ले अथवा परमात्मा का विषयों का विचारण कर ले। दो में से एक का ही विचारण विनिश्चिय हो सकता है। इसलिए परमात्मा में मन और बुद्धि के अर्पण के लिए हमें संसार के विषयों का विचारण और विनिश्चय समाप्त करके इस विचारण को अर्थात् मन और बुद्धि के विषय को परमात्मा में समाहित करना पड़ता है।

प्रश्न 36. परमात्मा की अनुभूति के क्या लक्षण हैं?

उत्तर : परमात्मा को अनिवर्चनीय तथा अचिंत्यस्वरूप कहा जाता है। अनिवर्चनीय का अर्थ होता है कि उस परमात्मा का वर्णन वाणी के द्वारा किया जा पाना संभव नहीं है। अर्थात् वाणी उस परमात्मा का वर्णन नहीं कर सकती है। वैसे ही परमात्मा का आभास इन्द्रियों मन तथा बुद्धि के द्वारा संभव नहीं है। इन्द्रियां, मन, बुद्धि जड तत्त्व हैं तथा परमात्मा चेतन तत्त्व है। चेतन तत्त्व का आभास जड़ तत्त्व के द्वारा किया जा पाना संभव नहीं है। इस कारण परमात्मा अचिंत्यस्वरूप है। साधक को जब परमात्मा की अनुभूति होती है तो उसमें अनेक गुणों का स्वतः ही प्रादुर्भाव हो जाता है तथा प्रकृतिजन्य गुणों सत, रज, तम से परे हो जाता है। परमात्मा की अनुभूति किये गए साधकों के विशिष्ट लक्षणों का अवलोकन कीजिए।

(एक) परमात्मा के स्वरूप का चिंतन होता है तथा संसार के स्वरूप का चिंतन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार मन परमात्मा में समाहित हो जाता है।

(दो) साधक में अपनी श्रेष्ठता का, पूज्यता का भाव नहीं रहता है अर्थात् अपने मान सम्मान की भावना पूरी तरह समाप्त हो जाती है।

(तीन) समस्त प्रकार की सांसारिक वासनाऐं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं और साधक स्पृहा रहित, ममता रहित तथा अहंकार रहित हो जाता है।

(चार) सुखों में अर्थात् अनुकूलताओं की प्राप्ति में प्रसन्नता का अभाव रहता हैं। दुःखों अथवा प्रतिकूलताओं के संयोग में दुःख और शोक का अभाव रहता है। इस प्रकार साधक में सुख और दुःखों में एकरूपता की स्थिति रहती है।

(पांच) सिद्ध पुरूष इन्द्रिय विषयों में आसक्त नहीं होता है। इन्द्रिय विषयों को मन से पूरी तरह से नियंत्रित कर लेता हैं मन तथा इन्द्रिय विषयों का विचारण न होने से उसकी इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति भी नहीं रहती है।

(छः) संसार में रहकर सांसारिक कर्मो से सर्वथा मुक्त रहता है तथा स्वयं से स्वयं में प्रसन्नता रहती है।

(सात) अहंकाररहित हो जाने के कारण उसकी स्वस्वरूप में स्वतः ही स्थिति हो जाती है।

(आठ) संसार में रहकर सांसारिक विषयों को ग्रहण न करना तथा शान्त और सौम्यभाव से स्थित रहना है तत्त्वदर्शी पुरूष का विशेष लक्षण है।

प्रश्न 37. ज्ञानयोग साधन में प्रकृतिजन्य गुणों का उल्लेख हुआ है। यह प्रकृतिजन्य गुण क्या हैं ? और प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : परमात्मा जिस शक्ति के द्वारा ब्रह्मांड की रचना करता है उस शक्ति को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति परमात्मा की अध्यक्षता में समस्त चराचर जगत को रचती है। अर्थात् जगत की रचना में प्रकृति परमात्मा को अध्यक्ष मानती है और स्वयं सारे जगत का निर्माण करती है। इस भाव से प्रकृति ही इस ब्रह्मांड की रचनात्मक शक्ति है। यह सृजन परमात्मा की अध्यक्षता में होता हैं। यही रचनात्मक शक्ति प्रकृति अपने संकल्प से तीन गुणों की उत्पत्ति कर देती है। इन गुणों को सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण कहा जाता है। इनका प्रभाव समस्त जीवों पर रहता है। समग्र ब्रह्मांड और सृष्टि में इन तीनों गुणों का प्रभाव है। अर्थात् कोई भी इन त्रिगुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं है।

मनुष्यों में भी इन त्रिगुणों का प्रभाव रहता है और उनके प्रभाव से ही मनुष्य प्रत्येक कर्म करता है। अर्थात् मनुष्य स्वयं कर्म नहीं करता त्रिगुण ही उससे कर्म करवाते हैं। सत्त्व गुण के प्रभाव से मनुष्य शुभ कर्म करता है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य तृष्णा और आसक्ति में संलग्न होकर शुभाशुभ कर्म किया करता है और तमोगुण के प्रभाव से मनुष्य अनेक प्रकार के अशुभ कर्मो का सम्पादन करता है। इस प्रकार यह त्रिगुण ही कर्मो के सम्पादन में मुख्य भूमिका निभाते हैं। हम सभी त्रिगुणों से प्रभावित होकर नाना प्रकार के कर्मो का इस संसार में प्रतिपादन किया करते हैं। इसलिए प्रकृति के द्वारा निर्मित यह त्रिगुण बहुत ही विशिष्ट तत्त्व हैं। प्रकृति तो जगत की रचना करती हैं, इसलिए महत्वपूर्ण है, परन्तु त्रिगुण तो मनुष्यों के प्रत्येक कर्म के सम्पादन का कारण है, इसलिए वे बहुत महत्वपूर्ण हैं।

प्रश्न 38. त्रिगुणों का मानव शरीर पर क्या प्रभाव रहता है ?

उत्तर : त्रिगुणों का मानव शरीर पर पूर्ण प्रभाव रहता है। अर्थात् हमारा शरीर त्रिगुणों के प्रभाव से ही नाना प्रकार के कार्य करता है। मानव शरीर में ही रज, सत तथा तम गुण

सूक्ष्मरूप में उपस्थित रहते हैं। प्रकृति इन गुणों को शरीर में प्रविष्टि करा देती है। इस तथ्य को सहजतापूर्वक हमें समझना चाहिए। सत्त्वगुण के प्रभाव से, रजोगुण के प्रभाव से, तमोगुण के प्रभाव से पृथक्–पृथक् गतिविधियां होती रहती हैं। इन तीन गुणों में से एक गुण विशेष रूप से सक्रिय रहता है। शेष दो गुण शान्त अवस्था में रहते हैं। जब शरीर में सत्त्व गुण बढ़ता है तब रज और तम गुण शान्त रहते हैं। जब रजोगुण बढ़ता है तब सत्त्व और तम गुणों की शान्त अवस्था होती है और तमोगुण की वृद्धि से सत्त्व तथा रज गुण शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार एक गुण की वृद्धि रहती है और दो गुणों का पतन रहता है।

जब मानव शरीर में सत्त्वगुण बढ़ जाता है तो उसमें परमात्मा के प्रति श्रद्धा का विकास, देवी देवताओं की उपासना में रूचि, समाज सेवा के कार्यो का आयोजन, धार्मिक अनुष्ठानों में क्रियाशीलता, दयाभाव, सरलता, सहजता, मधुरता आदि गुणों की स्वतः ही वृद्धि हो जाती है। जब सत्त्वगुण बढ़ता है तो मनुष्य को कर्म अकर्म और विकर्म का स्वतः ही बोध हो जाता है और वह कर्म अर्थात् शास्त्रसंगत कर्मो के अनुकरण की इच्छा करता है। यह सभी कर्म सत्त्वगुण की शरीर में वृद्धि होने के लक्षण हैं। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि मनुष्य सत्त्वगुण के प्रभाव से अनेक प्रकार के शुभ कर्मो का सम्पादन करने को बाध्य रहता है।

जब मानव शरीर में रजोगुण बढ़ता है तब मनुष्य सांसारिक कर्मो की ओर स्वतः ही आसक्त हो जाता है। अनेक प्रकार के नवीन सांसारिक कर्मो को स्वतः ही क्रियान्वित करने को उद्धत होता है। रजोगुण से आवृत मनुष्य प्रत्येक समय धन, सम्पत्ति, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति हेतु विचार करता रहता है तथा इसी के प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील भी रहता है। यह विचार तथा प्रयत्नशीलता रजोगुण के कार्यरूप हैं। इस प्रकार रजोगुण से प्रभावित मनुष्य कर्मासक्त रहता है तथा सांसारिक वस्तुओं के एकत्रीकरण का कार्य करता है और लोभ से आवृत हो जाता है। एक वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् दूसरे वस्तु की प्राप्ति की तथा अनेक सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा उसमें प्रबल रहती है जिसके कारण वह नवीन कार्य आरम्भ किया करता है और कार्य की सिद्धि और असिद्धि में संशय रखता है। यही संशय उसे कभी शान्त नहीं बैठने देता अर्थात् अशान्त रखती है। शरीर में तमोगुण बढ़ जाता है तो मनुष्य में अज्ञान की वृद्धि स्वतः ही हो जाती है तथा वह कर्तव्य–अकर्तव्य, धर्म–अधर्म में अंतर को नहीं जान पाता है ऐसी स्थिति में वह अकर्तव्य को कर्तव्य तथा अधर्म को धर्म समझ कर कर्मो का सम्पादन करता रहता है जिसका परिणाम निश्चित रूपेण पतन होता है। तमोगुण के बढ़ जाने से मनुष्य में निद्रा, आलस्य, प्रमाद, स्वतः ही बढ़ जाता है तथा लोगों के प्रति अहित की भावना, हिंसावृत्ति तथा दुष्कर्मो और दुराचार के सम्पादन की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप मोह में अति वृद्धि हो जाती है।

तमोगुण के कारण ही मनुष्य अनेक प्रकार के असामाजिक और अवैधानिक कार्यो का प्रतिपादन करता है।

प्रश्न 39. मानव शरीर में सत्त्वगुण कैसे बढ़ता है? तथा रज और तम कैसे बढ़ जाते हैं ?

उत्तर : मनुष्य की प्रकृति रजोगुणी है, परन्तु मनुष्य जिस गुण का विकास करना चाहें वह कर सकता है। यह उसकी अपनी प्रकृति के आधार पर आधारित होता हैं। वह समाजसेवा, दूसरों के हित के कार्य, परमात्मा की उपासना, देवी देवताओं की पूजा अर्चना, सात्त्विक भोजन को ग्रहण करके शरीर में सत्त्वगुण की वृद्धि कर सकता है। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थो को प्राप्त करने की इच्छा और उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करके भोगों की ओर उन्मुख हो जाए तो उसमें रजोगुण की वृद्धि स्वतः हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह संसार के विषय भोगों का चिंतन करता है और उसकी प्राप्ति में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सांसारिक कर्मो में प्रवृत्त होने से रजोगुण बढ़ता है। मनुष्य यदि अनेक प्रकार के असामाजिक, अवैधानिक, अनैतिक, अधार्मिक हिंसा आदि दुष्कर्म करता है तो उसमें तमो गुण की वृद्धि स्वतः हो जाती है। यह मनुष्य के विवेक पर आधारित होता है कि वह किस गुण का विकास करना चाहता है। जिस गुण का विकास करना चाहता है वह उसी प्रकार के कर्म आरम्भ कर सकता है। सत्त्वगुण के विकास के प्रयास से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। रजोगुण के विकास से सुख और दुःख दोनों प्राप्त होते हैं तथा तमोगुण के विकास के प्रयास से मनुष्य को दुःख ही दुःख प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 40. प्रकृति मानव शरीर का निर्माण कैसे करती है ?

उत्तर : प्रकृति के दो प्रकारों का उल्लेख श्री गीता जी में हुआ है। अन्य ग्रंथों में भी प्रकृति के अन्य तत्त्वों का वर्णन किया गया है। श्री गीताजी के अनुसार प्रकृति के दो भेद हैं। एक अपरा प्रकृति तथा दूसरी परा प्रकृति। अपरा प्रकृति के श्रीभगवान ने आठ भेद कहे हैं जिन्हें 1– भूमि 2– जल 3– वायु 4– अग्नि 5– आकाश 6– मन 7– बुद्धि 8– अहंकार कहते हैं तथा परा प्रकृति एक प्रकार की है जिसे जीव कहा जाता है। अपरा प्रकृति को जड़ माना जाता है और परा प्रकृति को चेतन माना जाता है। पहले तो अपरा प्रकृति जड़ मानव शरीर का निर्माण करती है तत्पश्चात् जीवरूपी पराप्रकृति उस जड़ शरीर को चेतन कर देती है। शरीर में जो ठोस तत्त्व है वह पृथ्वी का रूप है। जो द्रव्य तत्त्व है वह जल का रूप है। प्राणवायु के रूप में वायु का तत्त्व शरीर में उपस्थित है। अग्नितत्त्व शरीर में तापक्रम रखता है। शरीर में जो रिक्तता अर्थात् पोलापन है वह आकाश तत्त्व के कारण है।

इन पांच तत्त्वों को पंच महाभूत कहा जाता है। इसलिए शास्त्रों में इसका उल्लेख आता है कि यह मानव शरीर पांच तत्त्वों से मिलकर बना हुआ है।

उक्त पांच तत्त्वों के अतिरिक्त इस मानव शरीर में परा प्रकृति के तीन और तत्त्व मन, बुद्धि तथा अहंकार भी उपस्थित रहते हैं। यह सूक्ष्म सृष्टि होने के कारण इनकी मानव शरीर में उपस्थिति सूक्ष्म रूप में रहती है। यह भी अपरा प्रकृति के ही अंश हैं तथा मानव शरीर के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। यह अव्यक्त रहकर भी व्यक्त रहते हैं तथा समस्त मानव शरीर की समग्र क्रियाओं का संचालन किया करते हैं। इस प्रकार अपराप्रकृति मानव शरीर का निर्माण कर देती है, तत्पश्चात् परमात्मा का अंश जीव शरीर में पराप्रकृति के रूप में उपस्थित होकर मानव शरीर को चेतन कर देता है, जिससे मानव शरीर क्रियाशील हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति मानव शरीर का निर्माण कर देती है और यह मानव शरीर संसार में अनेक प्रकार की चेष्टाऐं करने को उद्धत हो जाता है।

प्रश्न 41. मानव शरीर की क्रियाविधि क्या है ?

उत्तर : मानव शरीर में 13 करण होते हैं। जिस साधन से मनुष्य समस्त प्रकार की क्रियाऐं सम्पादित करता है उसे करण कहा जाता है। मानव शरीर के करण के दो प्रकार हैं। एक बाह्यकरण, दो– अंतःकरण। बाह्यकरण के भी दो भेद हैं जिन्हें ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां कहा जाता है। मानव शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं जिन्हें कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका कहा जाता है और पांच कर्मेन्द्रियां भी है जिन्हें वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, पायु कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों अर्थात कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका के पांच पृथक्–पृथक् गुण हैं जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध कहा जाता है। पंच महाभूतों अर्थात् आकाश, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी के भी पांच गुण हैं जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध कहते हैं। आकाश ने अपने शब्द गुण को कर्ण अर्थात् कानों को दिया है। शब्द तन्मात्र से ही आकाश और श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। अग्नि का गुण रूप है। अग्नि ने अपने इस गुण को नेत्रों को प्रदान किया है। रूप तन्मात्र से अग्नि तथा नेत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी जाती है। जल का गुण रस है। जल ने अपने गुण को जिह्वा को प्रदान किया है। रस तन्मात्र से ही जल और स्वादेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। वायु का गुण स्पर्श है। वायु ने अपने गुण को त्वचा को प्रदान किया है और स्पर्श तन्मात्र से ही वायु तथा त्वकेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी का गुण गंध है। पृथ्वी ने अपने गुण गंध को नासिका को प्रदान किया है। इसी गंध तन्मात्र से पृथ्वी तथा घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का जो गुण है वह पंच महाभूतों के द्वारा ही प्रदान किया गया है।

मानव अपने कानों से समस्त प्रकार की ध्वनि को ग्रहण करता है इस प्रकार कर्ण ध्वनि ग्रहण करने का साधन हैं। नेत्रों से हम देखते हैं। इस प्रकार नेत्रों से हम देखने का कार्य लेते हैं। नेत्र प्रकाश में वस्तुओं को देख सकते हैं। इसलिए देखने की जो शक्ति है वह प्रकाश में है अथवा यह कहा जाए कि प्रकाश के माध्यम से ही नेत्र वस्तुओं को देखने की क्षमता रखते हैं। जिह्वा से हम विभिन्न प्रकार के भोजन का आनन्द लेते हैं। भोजन किस प्रकार का है ? स्वादिष्ट है अथवा स्वादिष्ट नहीं है। तथा मीठा, खट्टा, कडुवा आदि है अथवा नहीं है यह जिह्वा के द्वारा ही हमें ज्ञात होता है। त्वचा स्पर्श का आभास कराती है। शीत, उष्ण, कठोर, मृदु आदि वस्तुओं का ज्ञान हमें त्वचा के द्वारा ही होता है। नासिका से ही हमें गंध का ज्ञान होता है। गंध तीव्र है, मृदु है, सुगन्धित है, दुर्गन्धित है, इसका ज्ञान हमें नासिका के द्वारा ही होता है। इस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियां विभिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। कर्ण ध्वनि ग्रहण करते हैं। नेत्र देखने का कार्य करते हैं। जिह्वा के द्वारा स्वाद ग्रहण करने का कार्य होता है। त्वचा स्पर्श का कार्य करती है तथा नासिका गंध ग्रहण करती है। बाह्यकरण के रूप में ज्ञानेन्द्रियां पृथक्–पृथक् प्रकार के कार्य करती रहती हैं।

कमेन्द्रियां भी पांच हैं, जिन्हें वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ, तथा पायु कहा जाता है। इस पांच कर्मेन्द्रियों के भी ज्ञानेन्द्रियों की तरह पांच विषय गुण होते हैं। वाक् अर्थात् वाणी का गुण शब्द है। हस्त अर्थात् हाथ का गुण रूप है। पाद अर्थात् पैर का गुण रस है। उपस्थ का गुण स्पर्श है और पायु का गुण गंध है। वाक् से हम बोलने का कार्य करते हैं। हाथ से आदान प्रदान का कार्य होता है। पाद से गमन किया जाता है। उपस्थ एवं पायु से मल मूत्र विसर्जन का कार्य होता है। इस प्रकार हमारी पांच कर्मेन्द्रियां करण के रूप हैं तथा विभिन्न प्रकार के कर्मो का पृथक्–पृथक् सम्पादन करती हैं। इस प्रकार बाह्यकरण के दस प्रकार अपने अपने कर्मो में बरतते हैं तथा शरीर को क्रियाशील रखते हैं।

अंतःकरण के तीन भेद हैं जिसे मन, बुद्धि तथा अहंकार कहा जाता है। मन की वृत्ति संकल्प है। बुद्धि की वृत्ति विकल्प है अर्थात् मन का कार्य संकल्प है और बुद्धि विकल्प रूपी कार्य करती है। अहंकार से हमें अपने अस्तित्त्व का बोध रहता है तथा इससे मिथ्याभास भी रहता है। बाह्यकरण से अंतःकरण श्रेष्ठ है, क्योंकि अंतःकरण के आदेश से ही बाह्यकरण कर्म करते हैं। जैसे कान किसी ध्वनि को ग्रहण करते हैं तो उसको मन भी ग्रहण करता है तथा ध्वनि के प्रकार का ग्रहण करके उसके प्रकार के विनिश्चय हेतु बुद्धि को प्रेषित कर देता है। बुद्धि ध्वनि के प्रकार का सही सही विनिश्चय कर लेती है। इस प्रकार कान तो मात्र ध्वनि को ग्रहण करता है परन्तु उसके प्रकार का निर्धारण मन और

बुद्धि के सहयोग से ही होता है। नेत्र किसी भी वस्तु को जब देखते हैं तो उनके आकार, रंग रूप का विनिश्चय मन और बुद्धि के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार जिह्वा किसी प्रकार के भोजन को जब ग्रहण करती है तो उसके स्वाद का तथा रस का निर्धारण मन और बुद्धि के द्वारा ही होता है। त्वचा किसी शीत, उष्ण, मृदु तथा कठोर वस्तु के सम्पर्क में आती है तो शीत उष्ण मृदु और कठोर वस्तु के प्रकार का विनिश्चय मन तथा बुद्धि के द्वारा ही होता है। नासिका गंध का ग्रहण जब करती है तो उससे दुर्गंध और सुगंध का निर्धारण मन और बुद्धि के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार बाह्यकरण अंतःकरण के आदेशों से ही कार्य करते हैं और उस पर पूरी तरह से आश्रित रहते हैं।

अहंकार भी अंतःकरण का एक भाग है। हमें अपने सांसारिक अस्तित्त्व का जो मिथ्याभास होता है वह अहंकार के कारण ही होता है। हम समाज में जो भी कार्य करते हैं उससे हमारी छवि का निर्धारण होता है और उस छवि के आधार पर हमें अपने अस्तित्त्व का बोध रहता है। हम शिक्षक हैं। हम अधिकारी हैं, हम श्रमिक हैं आदि आदि का जो बोध होता है वह अहंकार के कारण ही होता है। अधिकांशतः हम अपने अस्तित्त्व के बोध के आधार पर ही सांसारिक वस्तुओं का मिथ्याभिमान करते रहते हैं और यह अहंकार का ही एक कार्यरूप है। इस मिथ्या अभिमान के कारण ही हमारे अन्य बाह्यकरण कार्य करते रहते हैं। मिथ्या अभिमान के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के अनैतिक कर्म भी करता है तथा वाणी रूपी करण भी अनेक प्रकार के अनावश्यक वार्तालाप करती रहती है। शरीर की गतिविधि जब अहंकार से प्रभावित हो जाती है तो अहंकार का प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार अहंकार के प्रभाव से शरीर की चेष्टा पृथक्–पृथक् रहती है। अहंकार स्वयं एक करण है जो समस्त करणों पर अपना प्रभाव डालता है। मानव शरीर की यह विधि पूरी तरह से करणों पर आधारित है। जिसे साधक को समझना चाहिए।

प्रश्न 42. मन की विशिष्ट क्रियाविधि क्या है ?

उत्तर : अपरा प्रकृति का छठा तत्त्व मन मानव शरीर का विशिष्ट अंग है। यह बहुत ही गतिशील, चंचल, प्रमथनशील तथा दृढ एवं बलवान है। मन को अंग्रेजी भाषा में माइंड कहा जाता है। विशेष बात यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क एक स्थान पर रहता है तथा उसकी गति, क्रिया, चेष्टा, अनेक स्थानों पर हुआ करती है। अनेक प्रकार के तथा भिन्न भिन्न प्रकार के सांसारिक विषयों का विचारण करना ही मन का विशिष्ट कार्य है। मन अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों का विचारण किया करता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में जो विषय आते हैं उन पर मन पहले विचार करता है तथा ज्ञानेन्द्रियों में जो अपने विषयों को ग्रहण करने की क्षमता है वह भी मन के कारण ही है। ऐसा हमें स्पष्ट रूप से समझना

चाहिए। जैसे हमारे कान किसी ध्वनि को ग्रहण करते हैं तो वह ध्वनि मन के द्वारा भी ग्रहण की जाती है। इसी कारण जब हम कोई ध्वनि सुनते हैं तो हमारा ध्यान उस ध्वनि की ओर स्वतः आकर्षित हो जाता है। कोई मधुर गीत सुनने पर हमारा मन भी उसे ग्रहण करता है और वह गीत हमारी स्मृति में संचित होता है। उसमें मन की भी प्रमुख भूमिका रहती है। इस प्रकार मन आंखों के द्वारा देखे जाने वाले दृश्यों को ग्रहण कर लेता है तथा उसे स्मृति में संचित कर लेता है। त्वचा के द्वारा स्पर्श का जो आभास होता है। जिह्वा के द्वारा रसों का जो आभास होता है। नासिका के द्वारा जो गंध ग्रहण की जाती है, उसमें मन की क्रियाशीलता रहती है। मन की क्रियाशीलता के अभाव में इन्द्रियां अकेले विषयों का ग्रहण नहीं कर सकती हैं इसी कारण मन को इन्द्रियों का स्वामी अर्थात अधिपति कहा जाता है।

कर्मेन्द्रियों में भी जो क्रियाशीलता है वह सबकी सब मन के द्वारा ही होती है। यद्यपि इसमें बुद्धि का विनिश्चय भी सम्मिलित होता है। मन जिस किसी विषय का विचारण करता है उसका विनिश्चय बुद्धि के द्वारा ही होता है। मन के विचारण तथा बुद्धि के विनिश्चय के द्वारा ही कर्मेन्द्रियां अपने अपने विषयों में पृथक्–पृथक् प्रकार से बरतती हैं। वाणी मन के द्वारा विचारित किये गए और बुद्धि के द्वारा विनिश्चत किये गए विषय को प्रकट करती हैं। यदि मन के द्वारा विषयों का विचारण न किया जाए तो वाणी कुछ भी बोलने में असमर्थ हो जाती है। इसी प्रकार हाथों के द्वारा वस्तुओं को आदान प्रदान करने की क्रियाओं में, पैरों के द्वारा गमन की क्रियाओं में मन का सहयोग रहता है तथा बुद्धि का विनिश्चय भी रहता है। मन के द्वारा सभी कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं पर विचार पहले होता है और क्रिया बाद में होती है।

यद्यपि कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं में ज्ञानेन्द्रियों का भी सहयोग रहता है। जैसे हम वाणी से कुछ बोलते हैं तो आंखे श्रोता के भावों का अध्ययन करती हैं तथा कर्ण श्रोता के उत्तर को सुनकर उसके द्वारा कहे गए वाक्यों को ग्रहण करके उसके उत्तर पर मन के द्वारा विचार करके बुद्धि के विनिश्चय के द्वारा सक्रिय होती है। वैसे ही हम जब हाथों के द्वारा किसी वस्तु का आदान प्रदान करते हैं तब आंखे वस्तु के आकार का अनुमान लगाती है और त्वचा उस पदार्थ को स्पर्श करती है तथा मन उस पदार्थ को कठोर मृदु आदि गुणों पर विचार करता है तब बुद्धि के विनिश्चय से उस वस्तु का परस्पर ग्रहण होता है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों के द्वारा सम्पादित कर्मो में भी मन की प्रमुख भूमिका रहती है।

मन बहुत शक्तिशाली तत्त्व है क्योंकि वह अपरा प्रकृति का अंश है। इन्द्रियों के विषयों का, इन्द्रियों के माध्यम से वह उपभोग करता है, परन्तु एकान्त में भी वह अकेले ही स्मरण के द्वारा भोगे गए भोगों का तथा काल्पनिक भोगों का भोग कर लेता है। अतीत में

इन्द्रियों के सहयोग से जो भोग हमने पूर्वकाल में भोगों थे उनकी स्मृति संचित हो जाती है। मन उन्हें स्मृति से निकाल कर उनका उपभोग कर लेता है। इस प्रकार मन स्मृति में संचित पूर्व भोगों को अपनी विचारशक्ति के द्वारा भोग सकता है। इसमें इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत किये गए विषयों तथा कल्पनाशील विषयों को मन स्वयं ही अकेले अपनी विचारण शक्ति के द्वारा उपभोग करता रहता है। इस प्रकार मन की यह विशिष्ट क्रियाशीलता एवं शक्ति है वह इन्द्रियों के सहयोग से इन्द्रिय विषयों का उपभोग तो करता ही है परन्तु एकान्त में अपनी विचारण शक्ति के द्वारा भी विषयों का उपभोग कर लेता है।

प्रश्न 43. मन को प्रमथनशील एवं चंचल क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : मन सदैव भ्रमण किया करता है। जागृत अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में यह बहुत गतिशील रहता है तथा साधारणतया इसे नियंत्रित किया जा पाना संभव नहीं है। इसकी सक्रियता जागृत और स्वप्नावस्था में बहुत तेज रहती है। इस कारण इसे प्रमथनशील एवं चंचल स्वभाव का कहा जाता है। जब हम जागते हैं तो विभिन्न स्थितियों में रहते हैं। या तो चलते फिरते रहते हैं या बैठे रहते हैं। अथवा लेटे रहते हैं। लेटने, बैठने, खड़े होने, चलने फिरने में भी मनुष्य का मन अनेक क्रियाऐं करता रहता है। यह क्रियाऐं तो इन्द्रियों के द्वारा होती हैं परन्तु इसमें मन का सहयोग रहता है। बाह्य करण इसमें क्रियाशील रहते हैं। सुनना, देखना, भोजन करना, स्पर्श करना, सुगंध लेना आदि आदि जो भी क्रियाऐं होती हैं वह मन के सहयोग से ही सम्पादित होती हैं। इस प्रकार जो भी क्रियाऐं मनुष्य करता है उनमें मन का स्पष्टरूपेण सहयोग रहता है।

मन देखते समय भी अनेक प्रकार के विषयों पर विचार कर लेता है। भोजन करते समय उठते बैठते, चलते फिरते भी मन की विचारण प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। मन निरन्तर किसी न किसी विषय पर अवश्य विचार करता रहता है। स्वप्नावस्था में अर्थात् स्वप्न देखते समय भी मन अनेक प्रकार के विषयों के बारे में विचार करता रहता है तथा जागृत अवस्था की तरह क्रियाशील रहता है। इस प्रकार इसके जागृत अवस्था तथा स्वप्नावस्था में भी क्रियाशील रहने के कारण इसे प्रमथनशील और चंचल स्वभाव का कहा जाता है। प्रमथनशील का अर्थ है कि वह निरन्तर विभिन्न प्रकार के विषयों का मंथन करता है तथा एक विषय पर नहीं रूकता है। इस कारण उसे चंचल कहते हैं।

प्रश्न 44. मन जड़ तत्त्व है अथवा चेतन तत्त्व है ?

उत्तर : मन अपरा प्रकृति का अंश होने के कारण जड़ तत्त्व है तथा यह चेतन तत्त्व जीव की शक्ति से संसार में अनेक प्रकार की चेष्टाऐं किया करता है। जैसे किसी जड़ मशीन को विद्युत चेष्टायुक्त कर देती है, क्रियाशील रखती है। उसी प्रकार मन को जीव रूपी विद्युत गति प्रदान करती रहती है। जड़ तत्त्व होने के बावूजद भी मन मशीन की तरह से वेगवान रहता है। उसकी गति बहुत प्रबल रहती है। उसकी तुलना संसार की किसी वस्तु की गतिशीलता से नहीं की जा सकती। उसे वायु की तरह से वेगवान बताया जाता है। जड़ तत्त्व होते हुए भी वह बहुत गतिशील रहता है यह एक विलक्षण बात है। उसकी गतिशीलता के कारण ही हम उसे चेतन तत्त्व समझते हैं, परन्तु मन निश्चित रूप से जड़ तत्त्व है।

प्रश्न 45. मन की क्रियाशीलता का शरीर की क्रिया पर क्या प्रभाव पड़ता है ? तथा शरीर किस प्रकार प्रभावित रहता है ?

उत्तर : मन की क्रियाशीलता का तथा स्थिति का शरीर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। साधारणतया मन शान्त नहीं रहता है और निरन्तर क्रियाशील रहता है। हम जब ध्यान साधना में बैठते हैं तो मन को संयमित करने का प्रयास करते हैं। संयमित मन वाले साधक को ध्यान में बैठने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। चूंकि ध्यान की क्रिया ही मन को शान्त तथा नियंत्रित और संयमित करने के लिए की जाती है। जब मन शान्त रहता है तो सम्पूर्ण शरीर भी शान्त हो जाता है और हमें बेचैनी का आभास नहीं होता। इसके प्रतिकूल जब मन अशान्त हो जाता है तो हमें बेचैनी का तत्काल आभास होता हैं और विश्राम की आवश्यकता का अनुभव भी होता है। अशान्त मन का शरीर की बाह्य क्रियाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वैसे ही शरीर की आन्तरिक क्रियाऐं भी बहुत प्रभावित होती हैं। अशान्त मन हृदय की धड़कन को प्रभावित करता है तथा पाचन संस्थान को भी अस्त व्यस्त और अनियमित कर देता है। मन के निरन्तर अशान्त रहने पर हमारी श्वसन क्रिया भी बहुत प्रभावित हो जाती है और रक्तचाप अनियमित हो जाता है तथा हृदय से सम्बंधित रोग प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार शान्त मन का शरीर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। मन की गति जितनी तेज होगी अर्थात् सांसारिक विषयों का चिंतन जितना अधिक होगा उतना ही हम अशान्त रहेंगे और इसका प्रभाव हमारे सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है।

प्रश्न 46. शान्त तथा नियंत्रित मन का शरीर पर क्या प्रभाव रहता है ?

उत्तर : जब मन शान्त रहता है तो हम अपने को शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ आभास करते हैं। मन का शान्त होना प्रकट करता है कि हम संसार की अनेक गतिविधियों

से दूर हो रहे हैं। संसार में बहुत गतिविधियां और चेष्टाऐं हुआ करती हैं। अशान्त मन उन गतिविधियों को ग्रहण कर लेता है और शान्त मन उदासीनवत् भाव से संसार की गतिविधियों को देखा करता है। संसार में संलग्नता ही मन को अशान्त कर देती है। हम संसार से दूर हो जाते है। तो मन भी शान्त हो जाता है। हम संसार के बारे में जितना अधिक विचार करते हैं उतना अधिक मन अशान्त रहता है तथा प्रमथनशील हो जाता है। इस कारण शान्त तथा नियंत्रित मन मनुष्य के शरीर को स्वस्थ और नियंत्रित कर देता है।

प्रश्न 47. चंचल मन को शान्त करने का क्या साधन है ?

उत्तर : अभ्यास तथा वैराग्य से चंचल मन शान्त हो जाता है। उसमें वैराग्य विशेष तथा आधारभूत तथ्य है। इन्द्रिय विषयों में तथा सांसारिक भोगों में घृणा का भाव उत्पन्न हो जाना ही वैराग्य का लक्षण है। जब तक साधक में इन्द्रिय विषयों के प्रति तथा सांसारिक भोगों के प्रति संलिप्तता रहती है, तब तक साधक का मन अशान्त और चंचल रहता है, क्योंकि इन्द्रिय विषय और सांसारिक भोग ही मन को चंचल रखने के हेतु हैं। इन्द्रिय विषयों को सांसारिक भोगों का ही पर्याय मान लेना चाहिए। इन्द्रिय अपने विषयों में बढ़ती है तथा इस प्रकार के व्यवहार को सांसारिक भोगो का ग्रहण करना कहा जाता है।

इन्द्रिय विषयों तथा सांसारिक भोगों की सीमा नहीं है अर्थात् वे असंख्य हैं। इन्हीं असीमित भोगों को कारण ही मन चंचल रहता है। इस कारण मन के चंचल स्वभाव को रोकने के लिए सर्वप्रथम हमें भोगों से घृणा बुद्धि उत्पन्न कर लेनी चाहिए तत्पश्चात् जहां जहां चंचल मन जाता है वहां वहां से हटाकर उसे अपने अभीष्ट में स्थापित कर देना चाहिए। इसी तथ्य को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास में नित्य निरन्तर सांसारिक विषयों से दूरी बनानी पड़ती है। अर्थात् समीपता का परित्याग करना पड़ता है। इस प्रकार वैराग्य तथा अभ्यास के निरन्तर सेवन से मन वश में हो जाता है और चंचल मन की प्रमथनशीलता अर्थात् मथने की क्रिया समाप्त होती जाती है। चंचल मन को परमात्मा के स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव में स्थापित कर देने से भी चंचल मन सांसारिक विषयों का परित्याग करके परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। जिससे भी मन की चंचलता को विराम प्राप्त होता है।

प्रश्न 48. बुद्धि की विशिष्ट क्रिया विधि क्या है ?

उत्तर : बुद्धि की वृत्ति अर्थात् कार्य को विकल्प कहा जाता है। मानव शरीर में बुद्धि एक सर्वाधिक विशिष्ट तत्त्व है। इस कारण उसकी क्रियाविधि भी विशिष्ट ही है। बुद्धि जागृत

तथा स्वप्न अवस्था में कार्य करती रहती है और सुषुप्ति अवस्था में शान्त हो जाती है। वह शरीर, इन्द्रियों तथा मन को नियंत्रित करती है। उसके ही आदेश से इन्द्रियां तथा मन कार्य करते हैं। जैसे मन के द्वारा किसी प्रकार की ध्वनि का ग्रहण किया जाता है तो उसकी संज्ञानता मन को हो जाती है। मन इस संज्ञानता को बुद्धि को प्रेषित कर देता है अर्थात् वह ध्वनि बुद्धि के द्वारा भी ग्रहण कर ली जाती है। बुद्धि उसे ग्रहण करके उस ध्वनि के प्रकार का विनिश्चय कर डालती है। इस प्रकार ध्वनि के प्रकार का विनिश्चय बुद्धि के द्वारा होता है तथा साथ ही उस ध्वनि का क्या अर्थ है? तथा उसका क्या उत्तर और प्रतिक्रिया होनी चाहिए इसका विनिश्चय भी बुद्धि ही करती है और सम्बंधित इन्द्रियों को उसका उत्तर प्रस्तुत करने के लिए आदेशित करती है।

इस प्रकार बुद्धि क्रियाशील रहती है तथा आदेशात्मक तंत्र के रूप में कार्य करती है। उसकी कार्य करने की गति बहुत ही तीव्र है। जिस प्रकार मन की गति तीव्र है उसी प्रकार बुद्धि की गति भी बहुत तीव्र है। जैसे हमसे कोई प्रश्न किया जाता है तो बुद्धि दो प्रकार से कार्य करती है। एक प्रश्न के अर्थ को समझना तथा उसके सही सही तथ्य को ग्रहण करना दूसरा उसके उत्तर की खोज करके उसे प्रस्तुत करना। उपर्युक्त दोनों क्रियाऐं बहुत तीव्र गति से बुद्धि के द्वारा होती हैं। जैसे हमसे कोई प्रश्न करता है कि पुस्तक कहां रखी है? तथा इस प्रश्न का ग्रहण बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों और मन के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। बुद्धि आंखों को उसे खोजने का आदेश देती है। हमें यदि पुस्तक दीखती है तो बुद्धि वाणी को यह आदेश देती है कि वह उसका उत्तर प्रस्तुत करे कि पुस्तक अमुक स्थान में रखी है। इस स्थिति में प्रश्नकर्ता को तत्काल उत्तर प्रस्तुत कर दिया जाता है। यदि हमें पुस्तक नहीं दीखती है तो प्रश्नकर्ता को नकारात्मक उत्तर देने का आदेश बुद्धि ही देती है। इस प्रकार प्रत्येक प्रश्न तथा समस्या का हल अर्थात् विकल्प बुद्धि खोजती है और उसका नकारात्मक और सकारात्मक उत्तर वाणी और इन्द्रियों के माध्यम से प्रस्तुत करती है।

बुद्धि अपरा प्रकृति का सातवां तत्त्व है तथा बहुत प्रबल रूप से वेगवान है। बुद्धि की क्रियाशक्ति को विवेक नाम से कहा जाता है। सात्त्विक बुद्धि में किसी भी तत्त्व का सही सही विनिश्चय करने में सक्षम होती है, क्योंकि उसमें सद्विवेक होता है परन्तु राजसी बुद्धि रजोगुण के कारण किसी भी तथ्य का सही सही विनिश्चय नहीं कर सकती हैं। उसी प्रकार तामसी बुद्धि की क्रियाशक्ति तमोगुण के कारण अज्ञान से आच्छादित रहती है और वह प्रत्येक तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकालती है। ऐसी स्थिति में उस बुद्धि को विवेकहीन कहा जाता है। इस प्रकार जिस बुद्धि पर सत्त्व गुण का प्रभाव रहता है वह कर्तव्य,

अकर्तव्य, धर्म, अधर्म को यथावत् जानती है। जिस पर तमोगुण का प्रभाव रहता है वह कर्तव्य अकर्तव्य का, धर्म अधर्म का सही रूप से विनिश्चय नहीं कर पाती और अधर्म को धर्म मान लेती है तथा अकर्तव्य को अकर्तव्य मानकर व्यवहार करती है। प्रत्येक तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकालना ही तमोगुणी बुद्धि का प्रतीक है। इसी कारण सात्त्विक बुद्धि पुरूष का विवेक प्रखर रहता है और वह उसे शुभ कार्यो में संलिप्त रहने का आदेश देती है। रजोगुणी बुद्धि का विवेक संशययुक्त रहता है। इस कारण वह सांसारिक वस्तुओं और विषयों में संलग्न रहने का आदेश देती है। तमोगुणी बुद्धि अज्ञान से आच्छादित हो जाती है इस कारण वह दुष्कर्मो में प्रवृत्त रहने का आदेश देती है।

प्रश्न 49. क्या बुद्धि स्वप्नावस्था में भी क्रियाशील रहती है ?

उत्तर : हां, बुद्धि स्वप्नावस्था में भी क्रियाशील रहती है। जब हम स्वप्न देखते हैं तो उस समय को अर्थात् उस काल को स्वप्नावस्था कहा जाता है। जागृत अवस्था की तरह से ही स्वप्नावस्था में भी बुद्धि कार्य करती है। हम स्वप्न देखते हैं। देखते समय बातचीत भी करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, दौड़भाग करते हैं, किसी के प्रश्न का उत्तर देते हैं। वाहन चलाते हैं, भोजन करते हैं आदि आदि अनेक प्रकार की क्रियाऐं करते रहते हैं। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में सब प्रकार के कर्म होते हैं। इन समस्त कर्मो के संचालन में बुद्धि ही कार्य करती है। जैसे जागृत अवस्था में किये जाने वाले कार्यो का संचालन बुद्धि करती है वैसे ही स्वप्नावस्था में भी जो कर्म होने का आभास होता है, उनका भी संचालन बुद्धि ही करती है। स्वप्न की अवस्था में हमें समस्त कर्म यथार्थ अर्थात् वास्तविक रूप में होते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु वे वास्तविक रूप में होते नहीं है। यह तथ्य जागृत अवस्था में आने पर हमें ज्ञात हो जाता है कि हम स्वप्न देख रहे थे। इस प्रकार समस्त कर्मो का संचालन स्वप्नावस्था में बुद्धि ही करती है तथा जागृत की तरह से बुद्धि भी क्रियाशील रहती है।

प्रश्न 50. बुद्धि जब समस्त कर्मो का आदेश देती है तो वह मनुष्यों को अवैधानिक कर्मो के सम्पादन का आदेश क्यों दे देती है ?

उत्तर : सामान्य रूप से बुद्धि तीन प्रकार की होती है जिसे 1– सात्त्विक बुद्धि, 2– राजसी बुद्धि तथा 3– तामसी बुद्धि कहा जाता है। सात्त्विक गुणों से प्रभावित पुरूषों में सात्त्विक बुद्धि रहती है। रजोगुण से प्रभावित पुरूषों में राजसी बुद्धि रहती है तथा तमोगुण से प्रभावित पुरूषों में तामसी बुद्धि रहती है। सात्त्विक बुद्धि को श्रेष्ठ बुद्धि कहा जाता है और यह सात्त्विक बुद्धि चार तथ्यों का ज्ञान रखती है। 1– किस कार्य में प्रवृत्त होना है ? तथा किन कार्यो से निवृत्त होना है। 2– हमें क्या करना चाहिए ? तथा हमें क्या नहीं

करना चाहिए ? 3– भय कैसे होता है ? तथा अभय कैसे होता है ? 4– बंधन कैसे होता है ? और मुक्ति कैसे होती है ? जो बुद्धि इन चारों तथ्यों को जानती है वह सात्त्विक बुद्धि कही जाती है। राजसी बुद्धि दो तथ्यों से अनभिज्ञ रहती है। 1– धर्म क्या है और अधर्म क्या है? इस अंतर को नहीं जानती है। 2– क्या करना चाहिए ? और क्या नहीं करना चाहिए इस तथ्य को भी नहीं जानती है। इस कारण राजसी बुद्धि अवैधानिक तथ्यों के सम्बंध में संशय रखती है। तामसी बुद्धि अज्ञान से आवृत हो जाती है। अर्थात् तामसी बुद्धि को अज्ञान ढक लेता है। इस कारण तामसी बुद्धि अधर्म को ही धर्म मान लेती है तथा ऐसा मानकर असामाजिक और अवैधानिक कर्मो के सम्पादन का आदेश दे देती है। इसलिए जब मनुष्य तमोगुण से आच्छादित हो जाता है तो तमोगुण उसकी बुद्धि को आवृत कर लेता है। ऐसी बुद्धि मनुष्य को अनेक प्रकार के अवैधानिक कर्मो के सम्पादन का आदेश देती है। यह अज्ञानतावश होता है, क्योंकि तमोगुण अज्ञान के स्वरूप में ही है।

प्रश्न 51. मन तथा बुद्धि में क्या अंतर है और दोनों में क्या सम्बंध है ?

उत्तर : मन की वृत्ति अर्थात् कार्य को संकल्प कहा जाता है तथा बुद्धि की वृत्ति अर्थात् कार्य को विकल्प कहा जाता है। मन इन्द्रियों के सम्पर्क में आकर सांसारिक विषयों तथा स्वतः अनुभूत एवं काल्पनिक विषयों के बारे में विचारण करता रहता है और बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों को देखती जाती है और उस पर अपनी सहमति अथवा असहमति व्यक्त करती है। मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय करना उसका प्रमुख कार्य है। इस प्रकार का विचारण मन की विशेष शक्ति है और उसका विनिश्चय करना बुद्धि की विशेष शक्ति है। इसीलिए मन को संकल्पात्मक कहा जाता है और बुद्धि को आदेशात्मक कहा जाता है। मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय करने के कारण ही बुद्धि मन से श्रेष्ठ है। अर्थात् उत्कृष्ट है। बुद्धि मन को जानती है तथा मन बुद्धि को नहीं जानता है इस कारण मन की गतिविधि, चेष्टा पर बुद्धि की पूर्ण दृष्टि रहती है। सात्त्विक बुद्धि मन के मनमाने आचरण पर विराम लगा देती है तथा उसके स्वेच्छाचारी स्वभाव को नियंत्रित रखती है परन्तु राजसी और तामसी बुद्धि मन के साथ संलग्न होकर उसके द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय करती रहती है, जिससे मनुष्य का पतन हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि मन की स्वामिनी है और उससे श्रेष्ठ है। मन तथा बुद्धि में यही अंतर है। मन विचारण शक्ति है और बुद्धि विनिश्चयात्मक शक्ति है। मन के द्वारा विचारित विषयों को बुद्धि विनिश्चय करती है तथा उसके संकल्पों का विकल्प खोजती है। यह मन तथा बुद्धि का विशिष्ट सम्बंध है। जहां मन जाएगा वहां बुद्धि भी जाएगी। इसलिए मन और बुद्धि

पारस्परिक सम्बंध में अति निकट है। इसके अतिरिक्त मन तथा बुद्धि दोनों परमात्मा की अपरा प्रकृति के छठवें और सातवें अंश है इस कारण भी वे आपस में सम्बंधी हैं।

प्रश्न 52. क्या मन की तरह बुद्धि भी चंचल और अस्थिर स्वभाव की होती है ?

उत्तर : अस्थिर मन के संयोग में रहने वाली बुद्धि भी अस्थिर रहती है ? मन सांसारिक विषयों का जितना अधिक विचारण करता है उतना ही बुद्धि को भी मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय और अनुगमन करना पड़ता है। इस कारण अस्थिर चंचल मन के सम्पर्क में रहने वाली बुद्धि भी अस्थिर हो जाती है मन तथा बुद्धि उन दो पहियों के समान है, जिसके साथ साथ रहने पर यह शरीर रूपी यंत्र दौड़ता रहता है। जब आधारभूत पहिया घूमता है तो उसके सम्पर्क में रहने वाला दूसरा पहिया स्वतः ही गति करने लगता है। इसी प्रकार मन प्राथमिक तत्त्व है यदि वह घूमता है तो बुद्धि भी स्वतः ही गतिशील हो जाती है और पहिए की तरह से अपने आप गति करने लगती है। मन के चंचल रहने के कारण जो विचार मन में आ जाते हैं उन पर दृष्टि रखना तथा उनका विनिश्चय करना बुद्धि का कार्य है और उसे यह कार्य करना पड़ता है। इस कारण बुद्धि भी मन की तरह से चंचल और अस्थिर रहती है। यदि बुद्धि चंचल मन के सम्पर्क में रहती है तो वह भी चंचल और अस्थिर हो जाती है और उसके स्वभाव के आधार पर ही कार्य करती है। इस प्रकार मन की तरह से ही बुद्धि चंचल और अस्थिर स्वभाव की होती है।

प्रश्न 53. क्या बुद्धि को स्थिर किया जा पाना संभव है ?

उत्तर : हां, बुद्धि को स्थिर किया जा पाना संभव है। बुद्धि को स्थिर किये जाने के लिए शास्त्रों में अनेक प्रकार के साधनों का उल्लेख किया गया है, क्योंकि बुद्धि बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। इस कारण बुद्धि को स्थिर किया जाना अति आवश्यक है।

प्रश्न 54. बुद्धि को स्थिर करने के क्या साधन और उपाय हैं ?

उत्तर : बुद्धि को स्थिर करने के लिए कई साधनों का उल्लेख शास्त्रों में आता है परन्तु उन सब में अत्यधिक विशिष्ट साधन श्रीभगवान ने श्रीगीताजी के दूसरे अध्याय के अंत में स्थिरप्रज्ञता विषय के रूप में वर्णित किया है। इसलिए श्री भगवान के द्वारा वर्णित किये जाने के कारण यह साधन विशिष्ट हो गए हैं तथा अत्यंत महत्वपूर्ण भी हैं। इसलिए बुद्धि को स्थिर करने के सम्बंध में इन साधनों के आधार पर ही यहां पर प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है। श्री गीताजी में जिन साधनों का उल्लेख है उन्हीं साधनों का निरूपण इस स्थल पर प्रस्तुत है।

साधन नं.1– श्री भगवान ने प्रथम साधन के रूप में बुद्धि को स्थिर करने के लिए यह तथ्य कहा है कि जो साधक बुद्धि को स्थिर करना चाहता है वह अपनी समस्त सांसारिक कामनाओं का परित्याग कर दें तथा स्वयं से ही स्वयं में संतुष्ट रहे। कामनाओं का समग्रता से परित्याग कर देने पर और स्वयं से स्वयं में ही संतुष्ट रहने पर मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है। समस्त कामनाओं के परित्याग का अर्थ है कि मनुष्य को समस्त प्रकार की लौकिक और पारलौकिक कामनाओं का समग्रता से परित्याग कर देना चाहिए। संसार की किसी भी वस्तु, स्थिति की अनुकूलता और संयोग की इच्छा न करना तथा मृत्यु के पश्चात् जो स्वर्गादिक लोक है उनकी भी कामना न करना कामनाओं का सम्पूर्णता से त्याग करना है। जब हम कामनाऐं करते हैं तो उनकी पूर्ति में प्रसन्नता का भाव आ जाता है और यदि वह पूरित न हों तो अप्रसन्नता का अभाव रहता है। यह दोनों भाव स्वयं से स्वयं में संतुष्ट रहने के प्रतिकूल भाव हैं। जब तक कामनाऐं रहेंगी तब तक मनुष्य में संतुष्ट का सर्वथा अभाव रहेगा। इसलिए समग्र प्रकार की सांसारिक कामनाओं के परित्याग से मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है और जब तक कामनाऐं रहती हैं तब तक मनुष्य की बुद्धि निश्चित रूप से अस्थिर रहती है। यह निश्चित और अकाट्य सिद्धान्त है।

साधन नं. 2– जब मनुष्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता में दुःख का आभास नहीं करता है और अनुकूलता में प्रसन्नता की अनुभूति से विगत हो जाता है तथा संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों में प्रियता का आभास नहीं करता है तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। वह साधन भी है और अपनी परख का लक्षण भी है। दुःखों में अप्रसन्न न हों और सुखों में प्रसन्नता का भाव न आए तो यह क्रिया साधन है और इस स्थिति की पूर्णतः तक पहुंचे यह लक्षण है। साधन पहले होता है लक्षण पश्चात् में प्रकट होता है। साधन करते करते लक्षण प्रकट होने लगते हैं तथा साधक को अपनी स्थिति के आंकलन का अवसर प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार सांसारिक भोगों में अच्छेपन का आभास न करना राग से मुक्ति है। यह साधन भी है तथा साधन की पूर्णतः से लक्षण स्वतः ही प्रकट हो जाता है। भय और क्रोध से मुक्त हो जाने पर भी बुद्धि स्थिर हो जाती है। भय का त्याग करना साधन है और इसकी परख पूर्णता है। क्रोध को न आने देना साधन है और क्रोध कभी न आये यह साधन की पूर्णता है तथा क्रोधमुक्त होने का लक्षण है। यही स्थिरप्रज्ञता जिसे स्थिर बुद्धि होना कहा जाता है।

साधन नं. 3– जो साधक शुभ के प्राप्त होने पर अभिनन्दित अर्थात् प्रसन्न नहीं होता है तथा अशुभ के प्राप्त होने पर अप्रसन्न नहीं होता है तो उस साधक की बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। शुभ के प्राप्त होने पर प्रसन्न न हो तो यह प्रयास साधन है तथा ऐसी स्थिति की

पूर्णता प्राप्त हो तो यह लक्षण है। अशुभ परिस्थिति आने पर अप्रसन्न न होना यह साधन है और उसकी पूर्णता प्राप्त होना लक्षण है।

साधन नं.4– जो साधक अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है तो ऐसे साधक की बुद्धि स्थिर हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं जिनके नाम कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा तथा नासिका है। उनके अपने अपने विषय हैं। वैसे ही पांच कर्मेन्द्रियां हैं, जिन्हें वाक् हस्त, पाद, उपस्थ, पायु कहा जाता है। इनके विषयों को शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के यह पांच विषय क्रमानुसार रहते हैं। इन्द्रियों के विषय जब निवृत हो जाते हैं अर्थात् इन्द्रियां अपने विषयों से व्यवहार नहीं करती है तो ऐसे साधक की बुद्धि स्थिर हो जाती है और जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों में लगाये रखता है उस साधक की बुद्धि कभी स्थिर नहीं हो सकती है।

इस प्रकार अन्य साधनों का उल्लेख भी श्रीभगवान ने गीताजी के दूसरे अध्याय के अंत में किया है। इसके अध्ययन हेतु हमें **दूसरे अध्याय के दूसरे उपखण्ड** का अध्ययन करना चाहिए और **बुद्धि कैसे स्थिर होगी ?** इस पुस्तक में भी इस प्रकरण को विशेष रूप से प्रस्तुत किया गया है। विशेष जानकारी के लिए हमें वहीं से इसका अध्ययन कर लेना चाहिए।

प्रश्न 55. मन की चंचलता पर नियंत्रण कर लेने से क्या बुद्धि को स्थिर किया जा पाना संभव हो सकता है ?

उत्तर : हां, चंचल मन यदि स्थिर हो जाए तो बुद्धि भी धीरे–धीरे स्थित होने लगती है। मन जितना अधिक चंचल होगा बुद्धि भी उतनी अस्थिर रहेगी। जैसे एक बच्चा चंचल होने के कारण इधर उधर भागता है तो उसके अभिभावक भी उसकी चंचलता रोकने के लिए अधिक प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार मन जब अधिक चंचल होता है तो बुद्धि भी उतनी अधिक अस्थिर और चंचल हो जाती है और वह विषयों का उपभोग तेजी से करती है तथा संसार में रमती है। इस कारण यदि चंचल मन को नियंत्रित कर लिया जाए तो बुद्धि को भी स्थिर किया जा सकता है। यह तथ्य मन और बुद्धि की संलग्नता के कारण ही है।

प्रश्न 56. अस्थिर बुद्धि से क्या हानियां हैं ?

उत्तर : बुद्धि के अस्थिर हो जाने से यह रहने से बहुत हानियां हैं। अस्थिर बुद्धि मन को नियंत्रित नहीं कर पाती है तथा मन के साथ साथ चलती है। मन जिन विषयों में रमता है उन विषयों में अस्थिर बुद्धि को भी रमा देता है और ऐसी स्थिति में अस्थिर बुद्धि मन के

साथ साथ विषयों में प्रवृत्त हो जाती है। घुल मिल जाती है। इस प्रकार बुद्धि के नियंत्रण से रहित मन स्वेच्छाचारी हो जाता है और निरन्तर संसार के विषयों में रमण करता है, घूमता है। बुद्धि मन की स्वामी होने के बावजूद भी उसके साथ दास अर्थात् सेवक की तरह से घूमा करती है। बुद्धि का विशिष्ट कार्य है मन को नियंत्रित करना। जब बुद्धि अपने इस विशिष्ट कार्य का सम्पादन नहीं करती है तो उससे मन अनियंत्रित होकर संसार के विषयों को ग्रहण किया करता है। उससे शरीर की बाह्य और आन्तरिक क्रियाओं पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इन्द्रियां भी मन के साथ अपने विषयों में भ्रमण किया करती है अर्थात् रमती रहती है।

प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी सांसारिक विषय में विशेष रूचि रहती है और वह उसी रूचि के कारण अपनी रूचि की पूर्ति के प्रयास में लगा रहता है। कोई व्यक्ति मधुर, कर्ण प्रिय संगीत सुनने में रूचि रखता है, कोई मनुष्य सुन्दर दृश्यों को देखना चाहता है कोई मनुष्य सुस्वाद भोजन में रूचि का अनुभव करता है। जो मनुष्य जिस विषय में रूचि रखता है उसका मन भी उसी रूचि के बारे यथार्थ तथा काल्पनिक विचारण करता रहता है और निरन्तर स्थिर और चंचल होता है। ऐसे मनुष्य की बुद्धि निश्चित रूप से अस्थिर और चंचल हो जाती है तथा वह मन के साथ साथ घूमा करती है। जैसा मन चाहता है वह वैसा ही आदेश देती है। मन मंत्री है और बुद्धि राजा है। अस्थिर बुद्धि विवेकहीन राजा की तरह से है, जो अपने सहायक मंत्री के विचारों के अनुसार चलती रहती है। इस प्रकार अस्थिर बुद्धि से बहुत हानियां हैं। अस्थिर बुद्धि वाले पुरूष का पतन निश्चित रूप से हो जाता है और भविष्य में उसकी बड़ी कुदशा होती है।

प्रश्न 57. स्थिर बुद्धि से क्या लाभ है ?

उत्तर : स्थिर बुद्धि से मानव का उत्थान हो जाता है। उसे बहुत आध्यात्मिक लाभ होता है। सात्त्विक बुद्धि ही स्थिर बुद्धि के रूप में परिवर्तित हो जाती है। स्थिर बुद्धि विशेषकर मन को नियंत्रित रखती है और उसे मनमाना विचारण नहीं करने देती। मन का कार्य सांसारिक विषयों का सामान्य रूप से विचारण करना है। किस विषय का विचारण करना है? तथा किस विषय का विचारण नहीं करना है? इस विषय पर स्थिर बुद्धि नियंत्रण रखती है। मन यदि अनावश्यक विषयों का विचारण करता है तो बुद्धि उसे तत्काल रोक देती है तथा उसे मनमाने विषयों पर विचार नहीं करने देती। जब मन नियंत्रित रहता है तो उसकी सहायक इन्द्रियां भी नियंत्रित हो जाती हैं? जिस प्रकार राजा जब संयमी, विवेकी, चरित्रवान, होता है तो वह अपने मंत्रियों को भी नियंत्रित रखता है और अनावश्यक कार्य नहीं करने देता। इसी प्रकार जब बुद्धि सांसारिक विषयों से हटकर ईश्वर की ओर उन्मुख

हो जाती है तो वह शरीर को आध्यात्मिक साधना का आदेश देती है। इस प्रकार स्थिर बुद्धि से बहुत लाभ है। वस्तुतः स्थिर बुद्धि ही मनुष्य में मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता को प्रकट कर देती है।

प्रश्न 58. अहंकार की विशिष्ट क्रियाविधि क्या है ?

उत्तर : अहंकार परमात्मा की अपरा प्रकृति का आठवां तत्त्व है तथा मानव शरीर में अतिसूक्ष्म रूप में नित्य निरन्तर उपस्थित रहता है। यह विशिष्ट करण भी है इससे सम्पूर्ण मानव शरीर प्रभावित रहता है। हमें अपने अस्तित्त्व का मिथ्याबोध अहंकार के ही कारण होता है। हम वास्तविक रूप से वह नहीं हैं जो अपने को समझते हैं। हम संसार में, समाज में अपने कार्य तथा व्यवसाय से जाने जाते हैं तथा हमारा अपना कोई विशिष्ट नाम भी होता है। जैसे हम शिक्षक, व्यवसायी, राजनेता, वैज्ञानिक आदि आदि जो भी हैं तथा हमारा जो विशिष्ट नाम होता है और जो व्यवसाय होता है उसी के अनुसार हमारी अपनी पहचान होती है और हम अपने को वैसा ही समझते हैं। यह मिथ्या आभास है जो हमें अहंकार के कारण ही रहता है।

जन्म से पूर्व न तो हमारा यह विशिष्ट नाम ही था और न ही यह कार्य और व्यवसाय ही था। परन्तु वर्तमान में जो हमारा नाम तथा व्यवसाय है उसी से हमारी पहचान भी है और उसी का हमें बोध भी रहता है कि हम अमुक हैं और हमारा अपना अमुक व्यवसाय है। यह बोध कराना अहंकार नामक तत्त्व का ही कार्य है। इसी को आप अहंकार की वृत्ति अर्थात् कार्य भी कह सकते हैं। यदि अहंकार नामक तत्त्व शरीर में न होता तो हमें अपनी सामाजिक और सांसारिक स्थिति का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। हम अन्य लोगों से अपने को पृथक् तथा भिन्न समझते हैं और ऐसा ही हम जानते हैं। यह केवल अहंकार के कारण ही होता है।

जागृत अवस्था में हमें अपने सांसारिक स्वरूप का ज्ञान अहंकार के कारण रहता है। हमें कोई हमारा नाम लेकर पुकारता है तो हम उस नाम लेने वाले की ओर सहज भाव से आकृष्ट होते हैं। यह आकर्षण अहंकार का स्वरूप है। हम अमुक नाम के व्यक्ति नहीं है, परन्तु उस अमुक नाम के पुकारते ही सचेत होते हैं। संज्ञान होते हैं और उत्तर देते हैं। हमारा स्वरूप हमारा नाम नहीं है तथा हमारा कार्य और व्यवसाय भी हमारा स्वरूप नहीं है। परन्तु फिर भी हम अपने को राजनेता, प्रशासनिक अधिकारी, चिकित्सक, विधि व्यवसायी, न्यायाधीश आदि मानते हैं। वैसा ही जागृत अवस्था में हम व्यवहार करते हैं। यह सब

व्यवहार अहंकार के प्रभाव से होता है। हम न तो अमुक नाम वाले हैं और न ही अमुक कार्य व व्यवसाय वाले ही हैं।

अहंकार के कारण ही हमें यह सब मिथ्या आभास हुआ करता है। जागृत अवस्था के अतिरिक्त भी स्वप्नावस्था में भी अहंकार नामक तत्त्व करण रूप से प्रभाव रखता है। हम अहंकार से प्रभावित रहकर ही स्वप्न में अपने अस्तित्त्व का मिथ्या आभास रखते हैं। यदि हम स्वप्नावस्था में बातचीत करें तो जो हम संसार में हैं जैसे भी हैं उसी प्रकार की बातचीत सामान्य रूप से करते हैं। हम स्वप्नावस्था में भी वैसा ही व्यवहार करते हैं। जैसा जागृत अवस्था में करते हैं। इस प्रकार स्वप्नावस्था में भी हमें अपने अस्तित्त्व का जो मिथ्याभास रहता है वह अहंकार नामक तत्त्व के कारण ही रहता है। स्वप्नावस्था में जागृत अवस्था की तरह से हमें अपने नाम तथा कार्य और व्यवसाय का कारण होने वाले अस्तित्त्व का बोध रहता है। इससे स्पष्ट रहता है कि हमें स्वप्न की अवस्था में भी अहंकार के प्रभाव का स्मरण रहता है। अहंकार करण रूप में इस प्रकार कार्य करता रहता है।

सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के साथ अहंकार भी शान्त हो जाता है तथा निद्रा काल में आत्मा ही शरीर में दृष्टा के रूप में रहती है। इस कारण हमें अपने अस्तित्त्व का बोध नहीं रहता है। सहजतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि सुषुप्ति अवस्था अर्थात् सोते समय हमारे शरीर पर अहंकार का प्रभाव शून्य हो जाता है और इस कारण हमें हमारे अस्तित्त्व का बोध नहीं रहता। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि की चेष्टाऐं भी शून्य हो जाती हैं। जब हम निद्रा से जागते हैं अर्थात् सुषुप्ति अवस्था से जागृत अवस्था में प्रवेश करते हैं तो पहले अहंकार जागता है और इस कारण ही हमें अपने अस्तित्त्व का बोध होता है। यदि अहंकार नामक तत्त्व न होता तो हमें सोकर जागने पर पुनः अपने अस्तित्त्व का बोध नहीं हो पाता। यह भी अहंकार के प्रभाव के कारण ही होता है। अहंकार के जागने के उपरान्त बुद्धि जागती है और क्रियाशील हो जाती है। उसके उपरान्त मन तथा ज्ञानेन्द्रियां जाग जाती हैं और वे सभी अपने व्यवहार में बरतती हैं। यह सब क्रमिक रूप से होता है। जागने पर पहले अहंकार से हमें अपने अस्तित्त्व का बोध हो जाता है और तत्पश्चात् बुद्धि के कारण उस अस्तित्त्व का विनिश्चय होता है। उसके उपरान्त मन तथा इन्द्रियां क्रियाशील हो जाती हैं तथा मन अपने विचारण के कार्य में अर्थात् संकल्पों में संलग्न हो जाता है और इन्द्रियां उसमें सहयोग करने लगती हैं। तब हमें अपने अहंकार के कारण अनेक प्रकार के मिथ्या आभास हुआ करते हैं जिससे संलग्न रहकर हम अनेक प्रकार की सांसारिक चेष्टाओं में दिनभर संलग्न रहते हैं। इस प्रकार अहंकार की यह विशिष्ट क्रियाविधि हैं जिसका ज्ञान सामान्य मनुष्य को कभी नहीं होता हैं और वह जीवनपर्यन्त अहंकार के प्रभाव से प्रभावित

रहकर अनेक प्रकार के सांसारिक कार्यो को करता रहता है तथा अपने से सम्पर्कित वस्तुओं और व्यक्तियों को अपना समझ कर उनमें मोह करता है। स्वामित्व की जो भावना है वह अहंकार का ही प्रतिरूप है। अमुक वस्तु हमारी है अमुक वस्तु दूसरे की है। अमुक व्यक्ति हमारे हैं अमुक हमसे पराये हैं। यह सबका सब जो आभास है वह अहंकार का ही प्रतिरूप समझना चाहिए। इस प्रकार अहंकार की जो क्रियाविधि है वह विशिष्ट प्रकार की है जिसे साधना की पराकाष्ठा पर जाकर के ही बोध किया जा सकता है।

प्रश्न 59. अहंकार का मानव शरीर पर क्या प्रभाव रहता है ?

उत्तर : अहंकार नामक सूक्ष्म तत्त्व से मानव का सम्पूर्ण शरीर ही प्रभावित रहता है। प्रत्येक मनुष्य अहंकार से आवृत रहता है। जैसे हम स्नान करते हैं तो हमारा सम्पूर्ण शरीर जल से भीग जाता है और सम्पूर्ण शरीर पर जल का पूर्ण प्रभाव रहता है। उसी प्रकार हम सभी अहंकार रूपी तत्त्व से भी सदैव नहाये हुए रहते हैं और यह अहंकार हमारे शरीर पर पूर्ण रूपेण प्रभावी रहता है। इसलिए इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि अहंकार रूपी तत्त्व हमारे शरीर को पूरी तरह से प्रभावित किये रहता है।

अहंकार के सामान्य रूप से तीन भेद माने जाते हैं। यह भेद करण अहंकार के सम्बंध में कहे जा रहे हैं, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति में भी अहंकार रूपी तत्त्व का विशिष्ट स्थान है। उस सम्बंध में यहां पर चर्चा नहीं हो रही है। हम यहां पर उस अहंकार की चर्चा कर रहे हैं जिससे यह मानव शरीर आच्छादित और आवृत रहता है। सात्त्विक अहंकार, राजस अहंकार तथा तामस अहंकार यह अहंकार के तीन भेद हैं। सत्त्व गुण से प्रभावित पुरूष सात्त्विक अहंकार से आवृत रहता है। रजोगुण से प्रभावित मनुष्य राजसी अहंकार से आवृत रहता है और तमोगुण से आच्छादित मनुष्य तामसी अहंकार के प्रभाव से नित्य निरन्तर आच्छादित रहता है। इस प्रकार सत्त्वगुण प्रभावित मनुष्यों को सात्त्विक अहंकार प्रभावित करता है। रजोगुण प्रधान पुरूषों को राजसी अहंकार प्रभावित करता है और तमोगुण प्रधान पुरूषों को तामसी अहंकार प्रभावित करता है। इस प्रकार मानव शरीर पर अहंकार का पृथक्–पृथक् प्रभाव पूर्णरूपेण रहता है, जो सामान्य पुरूष की समझ में नहीं आता है। साधक मनुष्य की समझ में आने लगता है।

प्रश्न 60. सात्त्विक अहंकार से प्रभावित मनुष्य के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : सात्त्विक अहंकार चूंकि सत्त्वगुण प्रधान पुरूषों में रहता है इस कारण वह अपना सात्त्विक प्रभाव मनुष्य पर डालता है। सत्त्वगुण प्रधान पुरूषों के रूप में हमारे समक्ष

साधुजन, संत महात्मा, विशेष साधक, शास्त्रवेत्ता, आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण व्यक्ति, वेदों शास्त्रों के मर्मज्ञ पुरूष होते हैं जो साधन से सत्त्व गुण की वृद्धि कर लेते हैं। ऐसे महानुभावों पर सात्त्विक अहंकार का पूर्ण प्रभाव देखा जाता है। इस कारण उन्हें अपने ज्ञान, साधन, तपश्चर्या के अहंकार से आवृत देखा जाता है। कुछ महानुभाव साधना से कुछ दैवी शक्तियां प्राप्त कर लेते हैं, वे भी इसी सात्त्विक अहंकार से प्रभावित रहते हैं। ऐसे पुरूषों को यथोचित सम्मान न मिलने पर, सत्कार न किये जाने पर, उनके ज्ञान तथा साधन को चुनौती दिए जाने पर जो प्रतिकार की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा शास्त्रादि की प्रबल इच्छा रहती है। वह सात्त्विक अहंकार के कारण ही होती है। सात्त्विक अहंकार के कारण ही संत महापुरूष, साधु पुरूष अनेक प्रकार के आध्यात्मिक उत्कृष्ट पदों और पदवी की आकांक्षा रखते हैं और उन्हें प्राप्त करने का भी प्रयास करते हैं। न मिलने पर दुर्भावना, क्षोभ, विषाद, कुंठा, हठवादिता, दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति आदि उत्पन्न कर लेते हैं। इसे सात्त्विक अहंकार का ही रूप मानना चाहिए।

श्रेष्ठता के भाव का पूज्यता की भावना का, उचित मान सत्कार न मिलने पर, शाप देने की भावना का जो उदय होता है उसे सात्त्विक अहंकार का प्रतिरूप ही मानना चाहिए। सात्त्विक अहंकार के कारण ही मनुष्य अपने को ज्ञानी, साधक, योगी, शास्त्रज्ञ तथा दैवी सम्पदा से सम्पन्न पुरूष समझता है और उसकी इस भावना का दंभ भी इसी अहंकार के कारण प्रकट हो जाता है। आजकल अनेक साधु पुरूषों में जो अनेक प्रकार के सामाजिक हित के कार्य सकाम भाव से किये जा रहे हैं तथा अनेक आध्यात्मिक अनुष्ठानों का जो प्रयास सकाम भाव से हो रहा है उसे भी सात्त्विक अहंकार का प्रतिरूप समझना चाहिए। सात्त्विक अहंकार के कारण ही साधु पुरूष अनेक प्रकार के ऐसे कृत्यों में संलग्न हो जाता है जिससे उसमें ख्याति और कीर्ति की भावना प्रबल हो जाती है और वह अपने को कर्ता मानने लगता है। इसी भाव के अधीन रहकर नाना प्रकार के सामाजिक और आध्यात्मिक कृत्यों का सम्पादन करता है। इस प्रकार सात्त्विक अहंकार भी विशिष्ट प्रकार का अहंकार है जिसे सामान्य पुरूष तो नहीं जान सकता। साधु पुरूष, शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान भी इसके प्रभाव से अपरिचित ही रहते हैं।

प्रश्न 61. राजसी अहंकार से प्रभावित मनुष्य के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : रजोगुण प्रधान पुरूषों में राजसी अहंकार रहता है। मनुष्य चाहें जैसी भी सामाजिक स्थिति का व्यक्ति हो उसको धन, पद, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि की इच्छा रहती है। निम्न स्तर के व्यक्ति मध्यम स्तर की स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं। मध्यम स्तर के व्यक्ति उच्च आर्थिक स्थिति वाले व्यक्तियों की तरह जीवन जीना चाहते हैं और

उच्च स्तर के लोग अति उच्च स्तर में जाना चाहते हैं। इसी कारण मनुष्य में स्वामित्व की प्राप्ति की कुछ न कुछ भावना अवश्य रहती है। इन वस्तुओं के स्वामित्व का आभास रहना राजसी अहंकार का ही कार्यरूप है। हमारे पास जो धन है तो उसके बने रहने की भावना और उसका प्रदर्शन राजसी अहंकार के कारण ही होता है। हमारे पास सम्पत्ति है तो उसके होने की भावना तथा उसके प्रदर्शन का भाव राजसी अहंकार का ही प्रतिरूप है। समाज में आज जो धन, पद, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, ऐश्वर्य का जो प्रदर्शन हो रहा है उसे राजसी अहंकार के प्रतिरूप के रूप में ही समझना चाहिए। धन सम्पत्ति के अतिरिक्त शरीर में बल रहने का आभास, शक्ति, सामर्थ्य का बोध रहना, कोई भी हमारा अहित नहीं कर सकता इस प्रकार के भाव का रहना राजसी अहंकार के कारण ही होता है और मनुष्य में अपने बल, शक्ति, सामर्थ्य का प्रदर्शन भी राजसी अहंकार ही करवाता है। इस प्रकार राजसी अहंकार से प्रभावित मनुष्य के लक्षण उसके कार्य के रूप में स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न 62. तामसी अहंकार से प्रभावित मनुष्य के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : तामसी अहंकार तमोगुण से प्रभावित पुरूषों में विशेष पाया जाता है। इस अहंकार के प्रभाव के कारण ही मनुष्य दुष्कर्मो के सम्पादन का प्रयास करता है तथा तामसी अहंकार के कारण ही मनुष्य दूसरों की हत्या करने शारीरिक, सामाजिक हानि पहुंचाने, लूटपाट करने, दुराचरण में संलग्न होने की इच्छा करता है। मैं अमुक व्यक्ति की हत्या कर सकता हूं। अमुक व्यक्ति को समाप्त कर सकता हूं। अमुक व्यक्ति को नष्ट कर सकता हूं। ऐसा दुष्कर्म तथा असामाजिक कार्य कर सकता हूं। इस प्रकार के भाव तामसी अहंकार के कारण ही मनुष्य में उत्पन्न हो जाते हैं और प्रकटीकरण तथा सम्पादन भी तामसी अहंकार के कारण ही होता है। तामसी अहंकार के प्रभाव से मनुष्य समाज में आतंक उत्पन्न करने का भाव रखता है तथा अपने आपको भय व्याप्त करने वाला आतंकी समझता है। इस प्रकार यदि मनुष्य अनेक प्रकार के असामाजिक, अवैधानिक कृत्यों का सम्पादन करे तो उसे तामसी अहंकार से प्रभावित पुरूष मानना चाहिए। यही तामसी अहंकार से प्रभावित मनुष्य का विशिष्ट लक्षण है।

प्रश्न 63. अहंकार के कारण होने वाली क्रियाओं का फल–परिणाम क्या होता है?

उत्तर : अहंकार के कारण होने वाली क्रियाओं का अनुचित, प्रतिकूल फल देखा जा सकता है। सात्त्विक अहंकार के प्रभाव के कारण जो क्रियाऐं होती हैं उनके परिणाम के रूप में मनुष्य की छवि प्रभावित होती है, जिससे वह सामाजिक आलोचना का शिकार हो

जाता है। इसी प्रकार राजसी अहंकार के कारण जो क्रियाऐं होती हैं वे कर्ता के विनाश का कारण ही होती हैं, उससे मनुष्य का पतन हो जाता है, क्योंकि समाज में अपने धन,ऐश्वर्य, सम्पदा, प्रतिष्ठा, पद का प्रदर्शन करने वाला सामाजिक आलोचना का सामना करता है और वे क्रियाऐं पाप की उत्पत्ति का कारण हो जाती है। इसी प्रकार तामसी अहंकार के कारण जो क्रियाऐं होती हैं वह मनुष्य का सर्वप्रकारेण पतन कर देती हैं तथा उसका फल बहुत निकृष्ट होता है, जो नरकों तथा पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनियों में जन्म लेने का कारण बन जाता है। इस कारण मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह साधना के द्वारा अहंकार के स्वरूप और उसके प्रभाव का अध्ययन करे तथा उससे निवृत होने का प्रयास भी करे। क्योंकि जब तक मनुष्य अहंकार से निवृत नहीं होता है तब तक मनुष्य में सुख दुःख मान अपमान की अनुभूति होती रहती है। अहंकार से निवृत हो जाने पर सुख दुःख, मान अपमान की अनुभूति समाप्त हो जाती है।

प्रश्न 64. क्या मनुष्य अहंकार से निवृत हो सकता है ?

उत्तर : अहंकार अति सूक्ष्म तत्त्व है, जो प्रत्येक मानव शरीर में सूक्ष्म रूप में रहता है। सूक्ष्म रूप में रहने पर भी वह अपना प्रभाव प्रकट करता है। जैसे विष की सूक्ष्म मात्रा भी शरीर में अनेक प्रकार के रोगों का कारण होती है, उसी प्रकार अहंकार का सूक्ष्म अंश भी मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। इस कारण मनुष्य को अहंकार के वशीभूत नहीं होना चाहिए। जहां तक अहंकार से निवृत होने का प्रश्न है इस सम्बंध में स्पष्ट करना है कि अहंकार के तत्त्व को, उसके प्रभाव को, उसके स्वरूप को तथा उसकी क्रियाविधि को समझ कर उससे निवृत हुआ जा सकता है। सत्त्व गुण से प्रभावित मनुष्य इसके प्रभाव तथा अहंकार से होने वाली शारीरिक क्रियाविधि को समझ जाते हैं परन्तु जब तक मनुष्य में सत्त्व गुण का तथा रजोगुण का मिश्रण रहता है तब तक अहंकार से निवृत्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित मनुष्य अहंकार से इस कारण निवृत नहीं हो पाते हैं क्योंकि वह अहंकार के प्रभाव और स्वरूप को जान ही नहीं पाते हैं। यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमें समझना चाहिए। सत्त्व गुण के विकास से रजोगुण के मिश्रण का विनाश हो जाता है तथा शुद्ध सत्त्वगुण प्रकट होता है। शुद्ध सत्त्वगुण से प्रभावित मनुष्य ही अहंकार से निवृत्ति का प्रयास कर सकता है और प्रयास से वह निवृत भी हो सकता है।

प्रश्न 65. अहंकार से निवृत्ति की क्रियाविधि क्या है ? अहंकार से निवृत व्यक्ति का लक्षण क्या है ?

उत्तर : सुख दुःख, लाभ–हानि, जय पराजय, मान अपमान इन आठ तथ्यों पर दृष्टि रखें। जब हमारी अनुकूल परिस्थितियां होती हैं तो हम उसके परिणाम में सुख का आभास करते हैं और प्रसन्न रहते हैं। जब हमारी परिस्थितियां प्रतिकूल रहती हैं तो हम दुःखी हो जाते हैं और हमें दुःख का आभास होता है। यह आभास अहंकार के कारण ही होता है। हमें जब अपनी वांछित वस्तुऐं और परिस्थितियां प्राप्त हो जाती हैं तो सुख का आभास स्वतः ही होता है और हमें जब अपनी वांछित वस्तुऐं प्राप्त नहीं होती हैं तथा हमारी परिस्थितियां प्रतिकूल होती हैं तो हमें दुःख की अनुभूति होती है। हमारा समाज में कुछ अस्तित्त्व है, रहता है। उस अस्तित्त्व में ह्रास होने पर हमें दुःख का आभास होता है और अस्तित्त्व में उत्थान दिखने पर सुख की प्रतीति होती है। यह अस्तित्त्व का आभास ही अहंकार का कार्य रूप है। हम जब अपने अस्तित्त्व की अनुभूति ही नहीं करेंगे तो हमें सुख दुःख कहां हो सकता है? कैसे हो सकता है? इस प्रकार सुख दुःख की अनुभूति न रहे तो मनुष्य अहंकार से निवृत हो जाता है। सुख दुःख की अनुभूति से पृथक् होने का प्रयास तो साधन है और ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना उसका लक्षण है।

हम कोई भी व्यवसाय अथवा कर्म करते हैं तो उस व्यवसाय एवं कर्म में हमारी लाभ पर दृष्टि रहती है। सामान्यतः लाभ का आंकलन करके ही मनुष्य प्रत्येक कार्य और व्यवसाय आदि करता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हमें उस कर्म अथवा व्यवसाय में लाभ ही हो। अधिकांशतः हमें हानि भी उठाना पड़ता है। लाभ होने पर हमें सुख का आभास होता है और हानि की स्थिति प्रकट हो जाने पर हमें दुःख का आभास स्वाभाविक रूप से होता है। लाभ हो अथवा हानि हो यदि हम सुख दुःख का आभास न करें तो हम अहंकार से निवृत हो जाते हैं। लाभ हानि में सम रहने की स्थिति शीघ्र प्राप्त नहीं हो सकती है। लाभ हानि कर्म फल है जिस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। यह कर्म फल का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित रहता है।

यह विचार जब दृढ़ हो जाता है तब मनुष्य लाभ हानि में सम हो जाता है और उसकी अहंकार से निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार लाभ हानि में सम होने का प्रयास साधन है और उसको प्राप्त कर लेना लक्षण है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन में संघर्ष करता है तथा कभी उसे विजय प्राप्त होती है और कभी वह पराजित हो जाता है। विजयी होने पर सुख का आभास करता है और पराजित होने पर दुःख का आभास करता है। जय पराजय में एक समान स्थिति कठिनता से प्राप्त होती है। यह स्थिति प्राप्त हो जाए तो भी अहंकार से निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि विजयी होने पर उसका अहंकार भाव प्रबल हो जाता है और पराजित होने पर प्रतिकार का भाव प्रबल हो जाता है। इन दोनों भावों का

समापन का प्रयास करना तो अहंकार से निवृत्ति का साधन है तथा यह स्थिति प्राप्त कर लेना अहंकार से निवृत्ति का लक्षण है।

अहंकार के कारण ही मान अपमान का आभास होता है। अहंकार से निवृत मनुष्य को सम्मान होने पर प्रसन्नता का आभास नहीं होता है और अपमान होने पर दुःख का आभास नहीं होता है। हमसे कोई प्रतिकूल व्यवहार करे तो हमारा अहंकार ही प्रबल होकर उसका प्रतिकार करता है। अहंकार रूपी तत्त्व से हमें अपने अपमान का आभास होता है ओर हमारा इसमें कुछ सम्मान है यह बोध अहंकार के कारण ही होता है। अपमानित होने पर जो प्रतिकार का भाव प्रकट होता है वह भी अहंकार का ही कार्यरूप है। सम्मान प्राप्त होने पर अचानक स्वतः ही प्रसन्नता का प्रकट हो जाना अहंकार का कार्यरूप है। हमारे में मान अपमान का जो भाव रहता है वह भी अहंकार के कारण ही रहता है। इस प्रकार मान अपमान से निवृत होने का प्रयास तो साधन है और निवृत हो जाना उसका लक्षण है।

प्रश्न 66. अहंकार से निवृत मनुष्य की स्थिति कैसी हो जाती है ?

उत्तर : सात्त्विक, राजस तथा तामस अहंकार से प्रभावित पुरूषों का पृथक्–पृथक् आचरण रहता है। सात्त्विक अहंकार से आवृत मनुष्य अपने को ज्ञानवान, प्रतिष्ठावान, पूज्यनीय, कुलश्रेष्ठ, विशिष्ट किसी विद्या विशेष का जानकार आदि होने का आभास करता है। वह अन्य मनुष्यों से अपने को निकृष्ट, ज्ञानहीन तथा नीच कुल का समझता है और अपने को वर्ण, आश्रम में उच्च मानता है। यह बोध तथा आभास सात्त्विक अहंकार के कारण ही होता है। हम जब अपने को ज्ञानवान समझने की भूल करते हैं तो हम सात्त्विक अहंकार से आवृत रहते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि हम सात्त्विक अहंकार के प्रभाव से पीड़ित हैं।

राजसी अहंकार के कारण मनुष्य अपने को धनवान, सम्पत्तिवान, बलवान्, ऐश्वर्यवान, प्रतिष्ठावान आदि आदि समझता है तथा आचरण में और व्यवहार में उसका प्रकटीकरण भी करता है। राजसी अधिकार से प्रभावित मनुष्य अपनी बातचीत में, व्यवहार में हठवादिता विशेष रखता है तथा उसे अपने धन, सम्पदा, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, बल, पद, सांसारिक ज्ञान आदि के प्रदर्शन की आदत पड़ जाती है। वह स्वभाववश वैसा ही बोलता है और वैसा ही आचरण करता है। उसके चलने में व्यवहार में इन सब तथ्यों का प्रकटीकरण रहता है। तामसी अहंकार से प्रभावित पुरूषों में दूसरों के अहित की भावना की प्रबलता रहती है जो बातचीत में, व्यवहार में, आचरण में अपने को शक्तिशाली, प्रकट करती है और ऐसा ही सक्षमता का दावा करती है। अवसर आने पर उसका क्रियान्वयन भी करते है परमात्मा की सत्ता में विश्वास न करने वाले मनुष्य तामसी अहंकार से आवृत्त

रहते है। इस संसार में किसी की सत्ता नहीं है। हमारी ही सत्ता है। ऐसा भाव जब मनुष्य में आ जाता है तो वह समाज में अपने को उत्कृष्ट मानकर दूसरों के अहित का प्रयास करता है और अपनी शक्ति का, बल का, प्रदर्शन निश्चित रूप से किया करता है। तामसी अहंकार से आवृत मनुष्य दुष्कर्मो की ओर स्वतः और स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त हो जाते हैं और जीवन भर अनेक प्रकार के अवैधानिक कृत्यों का सम्पादन निश्चित रूप से करते रहते हैं। अंततः वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रकार के अहंकार से आवृत मनुष्य का आचरण पृथक्–पृथक् प्रकार का रहता है, जो प्रतीत होता है प्रकट होता है। व्यवहार में स्वतः ही आ जाता है।

प्रश्न 67. अहंकार का शरीर पर क्या प्रभाव होता है ?

उत्तर : अहंकार का शरीर पर व्यापक प्रभाव होता है। सामान्यजन इस प्रभाव को नहीं जानते है। साधक इसको जानते है और इसका अनुभव करते है। अहंकार का शरीर पर क्या प्रभाव होता है ? इसको जानने के लिए हमे साधना के उच्च स्तर तक जाना पड़ता है।

प्रश्न 68. क्या अहंकार के प्रभाव को मन और बुद्धि जानती है ?

उत्तर : सात्त्विक मन, बुद्धि अहंकार के प्रभाव को जानती है और उसका अनुभव करती है परन्तु उससे निवृत नहीं हो पाती है। प्रभाव को जानना तथा उससे निवृत होना यह दोनों अलग–अलग तथ्य हैं। जैसे हम किसी रोग को जान लें उसके प्रभाव को समझ लें परन्तु यदि उससे निवृत होने के लिए उचित औषधि का प्रयोग नहीं करेंगे तो हम कदापि उस रोग से निवृत नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार अहंकार के प्रभाव को जानना तथा उससे निवृत होने का प्रयास करना पृथक्–पृथक् तथ्य है। सात्त्विक मन तथा बुद्धि अहंकार के प्रभाव को जानती है और अहंकार के प्रकट होने पर उसके प्रकटीकरण का बोध कर लेती है। राजसी तथा तामसी बुद्धि अहंकार के प्रभाव को नहीं जानती है, इस कारण अहंकार से निवृत होने का साधन करने का प्रश्न ही नहीं होता है। इस प्रकार सात्त्विक मन और बुद्धि अहंकार के प्रभाव को जानती है पर उससे निवृत नहीं हो पाती है।

प्रश्न 69. अहंकार से आवृत रहने पर क्या हानियां हैं?

उत्तर : अहंकार से आवृत रहने पर बहुत हानियां हैं। जैसे हम किसी रोग से ग्रसित हो जाते हैं तो उसका उचित उपचार न करने पर वह रोग निरन्तर बढ़ता जाता है और अंततः हमारी मृत्यु का कारण होता है। वैसे ही अहंकार से आवृत रहने पर मनुष्य स्वस्वरूप में

स्थित नहीं हो सकता है। स्वस्वरूप में स्थिति का होना मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। इस कारण मानव जीवन का जो उद्देश्य हमें अहंकार के कारण नहीं प्राप्त हो पाता है तो इससे बड़ी हानि क्या हो सकती है ? हम अपने मानव जीवन के लक्ष्य से ही वंचित हो जाते हैं। यह एक प्रमुख हानि है। इसके अतिरिक्त हम जब अहंकार से आवृत हो जाते हैं तो हम ईर्ष्या द्वेष आदि द्वंद्वों में फंसकर अनेक प्रकार के अवैधानिक और अनैतिक कर्मो का सम्पादन करने लगते हैं, जिसका दुष्परिणाम हमारे जीवन में निश्चित रूप से प्रकट हो जाता है। सात्त्विक अहंकार से ज्ञान और सुख की आसक्ति प्रकट होती है। राजसी अहंकार के प्रभाव से कर्म की आसक्ति प्रकट होती है और तामसी अहंकार से अज्ञान की आसक्ति प्रकट हो जाती है। यह सब हमारे व्यवहार में प्रतीत होती है। प्रकट रहती है परन्तु हम उसका आभास न करके संसार में नाना प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल चेष्टाऐं किया करते हैं जिसका परिणाम दुःख के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार अहंकार से आवृत रहने पर सर्वप्रकारेण हम हानियों से ग्रस्त हो जाते हैं।

प्रश्न 70. अहंकार से निवृत पुरूष का क्या लक्षण है ?

उत्तर : सम्मान प्राप्त होने पर प्रसन्नता का आभाव रहना। अपमानित होने पर प्रतिकार की भावना का अभाव रहना। सम्मान प्राप्त होने पर सुख का आभास न करना और असम्मान प्राप्त होने पर दुःख का आभास न करना। लाभ प्राप्त होने पर प्रफुल्लित न होना और हानि के उपस्थित होने पर उद्विग्न न होना। सुख दुःख में एक समान व्यवहार करना ही अहंकार से पूर्ण निवृत पुरूष का विशेष लक्षण है। इस प्रकार के पुरूष इस संसार में अति अल्प मात्रा में वर्तमान में हैं। ऐसे पुरूषों का मिलना दुर्लभ है और ऐसे पुरूषों की संगति यदि प्राप्त हो जाए तो मनुष्य का निश्चित रूप से कल्याण हो सकता है। कोई भी मनुष्य इन उपरोक्त तथ्यों से पहचान में आ सकता है कि वह अहंकार से निवृत हुआ है अथवा नहीं। यदि किसी मनुष्य में उक्त लक्षण प्रतीत नहीं हो रहे हैं तो यह निश्चित रूप से समझना चाहिए कि मनुष्य अभी अहंकार से निवृत नहीं हुआ है।

प्रश्न 71. मन, बुद्धि और अंहकार में सबसे सूक्ष्म तत्त्व कौन है ?

उत्तर : मन, बुद्धि, अहंकार में सबसे सूक्ष्म तत्त्व अहंकार होता है। जब मनुष्य जागृत अवस्था से सुसुप्ति अवस्था में जाता है अर्थात् जब वह निद्रा की ओर बढ़ता है तब पहले शरीर की क्रियाशीलता समाप्त होती है, फिर उसकी इन्द्रियां अक्रिय हो जाती हैं। तत्पश्चात् क्रम से मन, बुद्धि और अहंकार शान्त हो जाते हैं। बुद्धि की वृत्तियां अर्थात् कार्य विकल्प तथा अहंकार की वृत्ति अस्तित्त्व का मिथ्या बोध भी मनुष्य को नहीं रहता है। इसी प्रकार

जब सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य जागृत अवस्था में आता है अर्थात् सोकर जागता है तब सबसे पहले अहंकार क्रियाशील होता है जिससे हमें अपने अस्तित्त्व का बोध हो जाता है। तत्पश्चात् बुद्धि, मन, इन्द्रियां तथा शरीर की क्रियाऐं आरंभ होती हैं। इस प्रकार अहंकार के अंततः शांत होने तथा जागने में सर्वप्रथम क्रियाशील होने के कारण वह सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। इससे सूक्ष्म तत्त्व अपरा प्रकृति में अन्य कोई नहीं है।

प्रश्न 72. अंतःकरण चतुष्ट्य में मन, बुद्धि, अहंकार के साथ चित्त का वर्णन भी होता है। चित्त किसे कहते हैं?

उत्तर : मन की वृत्ति संकल्प है। इस वृत्ति के कारण मन निरंतर ही इन्द्रियों के संपर्क में आने वाले संसारिक विषयों का विचारण किया करता है। इसी विचारण के कारण ही वह सुषुप्ति अवस्था को छोड़कर जागृत तथा स्वप्नावस्था में निरंतर चंचल तथा अस्थिर रहता है। जब यही मन किसी विषय विशेष का चिंतन करता है तो वह चित्त कहलाता है। संसारिक विषयों का चिंतन हो अथवा आध्यात्मिक विषयों का चिंतन हो सबके सब चित्त के द्वारा ही किए जाते हैं। ध्यान में इसका विशिष्ट कार्य है, तभी महर्षि पतंजलि ने अपने ग्रंथ योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों को रोकने को योग कहा है। श्रीगीताजी के छठवे अध्याय आत्मसंयमयोग में भी चित्त का वर्णन श्रीभगवान ने किया है। इस प्रकार मन जब विषय विशेष का चिंतन करता है तो वह चित्त कहलाता है। इसी कारण चित्त की वृत्ति को चिंतन कहते हैं। दुख में, प्रतिकूलता में जो चिंता होती है वह चित्त का कार्य है।

प्रश्न 73. शरीर की कितनी अवस्थाऐं तथा प्रकार होते हैं?

उत्तर : शरीर की तीन अवस्थाऐं होती हैं जिन्हें जागृत अवस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है तथा शरीर के तीन भेद भी हैं जिन्हें स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर कहते हैं। जब मनुष्य जागता है तो उसकी यह जागृत अवस्था कही जाती है। जब मनुष्य स्वप्न देखता है तो उसकी यह स्वप्नावस्था कही जाती है तथा जब मनुष्य सोता है तो उसकी यह सुषुप्ति अवस्था कही जाती है। स्थूल शरीर जागृत अवस्था में और सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था में तथा कारण शरीर सुषुप्ति अवस्था में आभासित होता है। इस प्रकार उक्त तीनों अवस्थाओं में तीन प्रकार के शरीरों की क्रियाशीलता रहती है।

प्रश्न 74. स्थूल शरीर क्या है? और वह जागृत अवस्था में कैसे क्रियाशील रहता है?

उत्तर : जो शरीर हमें प्रतीत होता है अर्थात् दिखाई पड़ता है उस शरीर में पैर, जांघ, कमर, पीठ, छाती, हाथ, मुख, सिर आदि–आदि अंग प्रतीत होते हैं। मानव शरीर में जो शरीर बाहर से प्रतीत होता है वह स्थूल शरीर कहा जाता है। जब मनुष्य स्वप्न देखता है तब सूक्ष्म शरीर क्रियाशील हो जाता है। मानव शरीर का निर्माण पंचमहाभूतों अर्थात पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश से होता है। अन्न से निर्मित तथा अन्न से पालित, पोषित इस शरीर को अन्नमयकोष भी कहते हैं। यह जागृत अवस्था में क्रियाशील हो जाता है। इस प्रकार स्थूल शरीर की समस्त क्रियाऐं जागते रहने पर संपन्न होती हैं।

प्रश्न 75. सूक्ष्म शरीर क्या है? तथा वह किस अवस्था में क्रियाशील रहता है?

उत्तर : सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई सत्रह तत्त्वों के समूह को सूक्ष्म शरीर मानते हैं। कोई चौबीस तत्त्वों के शरीर को सूक्ष्म शरीर मानते हैं। जो विद्वान सत्रह तत्त्वों के समूह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं उनके मतानुसार पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण तथा मन, बुद्धि मिलाकर कुल सत्रह तत्त्व हैं। जो विद्वान चौबीस तत्वों के शरीर को सूक्ष्म शरीर मानते हैं उनके मतानुसार पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण, पांच महाभूत, चार अंतःकरण तथा तीन अविद्या, काम तथा कर्म हैं। यह सूक्ष्म शरीर स्वप्न की अवस्था में क्रियाशील रहता है तथा साथ ही कारण शरीर भी रहता है। अर्थात जब हम स्वप्न देखते हैं तब सूक्ष्म शरीर सक्रिय हो जाता है। इस कारण स्वप्नावस्था सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति कही जाती है।

सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों के संबंध में साधक को विचार करना चाहिए तथा प्रयोग करना चाहिए। चिंतन के द्वारा इसके तत्त्वों का विनिश्चय करने का प्रयास भी होना चाहिए। स्वप्नावस्था में जो सूक्ष्म शरीर हमें प्रतीत होता है वह स्थूल शरीर जैसा ही आभासित होता है। यह पंचमहाभूतों द्वारा निर्मित है। इस कारण सूक्ष्म शरीर में पंचमहाभूतों का आभास किया जा सकता है। हम स्वप्नावस्था में बोलते, भागते, दौड़ते, ग्रहण करते आदि–आदि जो भी कर्म करते हैं उनका आभास करते हैं, इस कारण पांच कर्मेन्द्रियां भी सूक्ष्म शरीर के तत्त्व माने जा सकते हैं। इसी प्रकार हम जब स्वप्नावस्था में सुनने, देखने, स्पर्श करने, भोजन करने, सुगंध लेने जैसे कार्य करते हैं इस कारण ज्ञानेन्द्रियों को भी इस शरीर का अंग मानना चाहिए। स्वप्नावस्था में मन संकल्प करता है अर्थात पृथक्–पृथक् संसारिक विषयों पर विचार करता है और बुद्धि उन विचारों का विनिश्चय करती जाती है। अहंकार से हमें अपने अस्तित्त्व का बोध भी रहता है तथा किसी विषय विशेष के आने पर चित्त उसका चिंतन भी करता है। इस कारण अंतःकरण के चार तत्त्व भी सूक्ष्म शरीर के अंश

माने जा सकते हैं। स्वप्नावस्था में पांच प्राणों के द्वारा पृथक्–पृथक् कर्म होते हैं। प्राण श्वांस के साथ बाहर निकलता है। अपान उसे भीतर ले जाता है। समान भोजन के पाचन मे ंसहयोग करता है। उदान भोजन करने के उपरांत भोजन के भाग को पृथक्–पृथक् होने का आभास करता है। व्यान स्वप्नावस्था में अंगों के संकुचन के कार्य का आभास करता है। स्वप्नावस्था में कभी कार्य का आभास होता है। जैसे हम लिखने का कर्म करते हैं तो लिखा गया कार्य भी आभासित होता है। सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों के बारे में प्रत्येक साधक को इस प्रकार उसके भेद के संबंध में भी गहनतापूर्वक विचार करना चाहिए।

सूक्ष्म शरीर के अन्य तीन नामों से भी संबोधित किया जाता है। सूक्ष्म शरीर में प्राणों की प्रधानता रहती है। इस कारण यह प्राणमयकोष भी कहा जाता है। मन की प्रधानता रहती है। अर्थात् मन के द्वारा संकल्प हुआ करता है। इस कारण इस शरीर को मनोमय कोष भी कहते हैं। इसके साथ बुद्धि भी विकल्प खोज लेती है। इस कारण बुद्धि की प्रधानता एवं विशिष्टता रहती है। इसलिए इस सूक्ष्मशरीर को विज्ञानमयकोष भी कहते हैं।

प्रश्न 76. कारण शरीर क्या है? तथा यह किस अवस्था में क्रियाशील रहता है?

उत्तर : सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर क्रियाशील रहता है। हम जब जागते नहीं है और स्वप्न भी नहीं देखते हैं तब वह अवस्था सुषुप्ति अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था में आत्मा ही दृष्टा होती है तथा इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन एवं मन से श्रेष्ठ बुद्धि भी अक्रिय हो जाती है। बुद्धि के क्रियाशील न रहने के कारण हमारा सांसारिक ज्ञान शून्य हो जाता है क्योंकि समस्त प्रकार के ज्ञान बुद्धि की सीमा तक कार्य करते हैं। बुद्धि के शान्त और अक्रिय हो जाने के कारण ज्ञान का बोध समाप्त हो जाता है। जहां ज्ञान नहीं होता है वहां अज्ञान स्वतः ही आ जाता है। जहां प्रकाश नहीं होता है वहां अंधकार स्वतः ही रहता है। इसलिए कारण शरीर को अज्ञान नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में किसी भी विषय वस्तु का ज्ञान नहीं होने के कारण अज्ञान रहता है। जब प्रकाश की तरह से ज्ञान रहता है तब अंधकार का पर्याय अज्ञान नहीं रह सकता। प्रकाश के हटते ही अंधकार तथा ज्ञान के हटते ही अज्ञान स्वतः ही आ जाता है। यह स्वभावगत सिद्धान्त है, जो स्वतः ही प्रकट होता है। इसमें प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती।

ज्ञान के रहने पर अज्ञान स्वभावतः नहीं रहेगा। इसी कारण जिस व्यक्ति में ज्ञान विशेष नहीं रहता है तो उसमें अज्ञान विशेष रहता है। इसलिए कारण शरीर को स्वभाव भी कह सकते हैं। सुषुप्ति मनुष्य का स्वभाव है। यह अवस्था स्वतः ही आती है। इसे लाने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पडता। इसी प्रकार दुःखों की प्रतीति हमें जागृत तथा स्वप्न

अवस्था में रहती है। सुखों का आभास भी रहता है। आनन्द की अनुभूति भी होती है। इस सुख तथा आनन्द का कारण समाप्त होते ही दुःखों का आभास होता हैं परन्तु सुषुप्ति अवस्था में सांसारिक कारणों से कितने ही दुःखी हों हमें सुख का, आनन्द का आभास ही रहेगा। दुःख की प्रतीति नहीं होगी। हम कितनी भी अधिक सीमा तक दुःखी हों पर निद्रा काल में इसका आभास भी नहीं रहता है। इस कारण दुःखों के न रहने पर आनन्द रहता है। इसीलिए कारण शरीर को आनन्दमय कोष भी कहते हैं।

प्रश्न 77. स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर का जीवात्मा से क्या सम्बंध है ?

उत्तर : जीवात्मा मानव शरीर में सर्वत्र रहती है, परन्तु वह इन तीनों शरीरों में अपने को पृथक् पृथक् काल में रहने वाला मानती है। अर्थात् मानव शरीर जिस काल में रहता है। जीवात्मा अपने को उसी कोष में रहना मान लेती है। यही बंधन का हेतु है।

प्रश्न 78. महदादि तत्त्वों के उत्पन्न होने में भी अहंकार का वर्णन होता है ? इसमें अहंकार की क्या भूमिका है ?

उत्तर : सृष्टि के आरम्भ में महतत्त्व के विकृत हो जाने से अहंकार नामक तत्त्व की उत्पत्ति हो जाती है। यह अहंकार नामक तत्त्व तीन प्रकार का शास्त्रों में वर्णित किया गया है। जिसे 1–वैकारिक अहंकार, 2–तेजस अहंकार और 3–तामस अहंकार कहते हैं। प्रत्येक अहंकार के विकृत होने से पृथक्–पृथक् प्रकार के तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्रों में आता है। यह सबका सब शास्त्रीय विषय है जिसका हम अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकते। इस कारण शास्त्रों में जो वर्णित किया गया है उसे हमें मानना पड़ता है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बंध में पृथक्–पृथक् शास्त्रों में अनेक वर्णन हैं, जिस पर हमें गहनता से विचार करना चाहिए।

प्रश्न 79. वैकारिक अहंकार की विकृति से कौन से तत्त्व उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : वैकारिक अहंकार के विकृत होने से मन नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। मन विचारण शक्ति प्रमुख कहा जाता है तथा यह तत्त्व विभिन्न प्रकार की कामनाओं को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है। मन तत्त्व इन्द्रियों का अधिपति अर्थात् स्वामी कहा जाता है तथा बहुत ही चंचल, अस्थिर, प्रमथनशील स्वभाव का होता है।

प्रश्न 80. तेजस अहंकार के विकृत होने पर किस तत्त्व की उत्पत्ति हो जाती है?

उत्तर : तेजस अहंकार के विकृत होने पर बुद्धि नामक तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि नामक तत्त्व से ही हमें संसार के पदार्थो का ज्ञान होता है। इन्द्रियां क्रियाशील रहती हैं तथा पृथक तत्त्वों का विनिश्चय होता है। यही बुद्धि का कार्य है। एक ही बुद्धि के पृथक्–पृथक् कार्य है। जैसे 1– संशय की उत्पत्ति हो जाना, 2– किसी तथ्य तथा वस्तु के बारे में प्रतिकूल ज्ञान हो जाना 3– किसी तथ्य तथा वस्तु का विनिश्चय करना 4– तत्त्वों, तथ्यों, घटनाओं को अपनी स्मृति में रखना तथा 5–निद्रा को भी बुद्धि का लक्षण समझना चाहिए। तेजस अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी जाती है। कर्म की प्रधानता वाली इन्द्रियों अर्थात् कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञान की प्रधानता वाली इन्द्रियों अर्थात ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण कहा जाता है। प्रत्येक की पांच–पांच संख्या का वर्णन पूर्व में भी हो चुका है। प्राण की शक्ति से कर्मो का सम्पादन होता है तथा बुद्धि की शक्ति से ज्ञान का बोध होता है। इस कारण कर्म को प्राण की शक्ति मानना चाहिए तथा ज्ञान को बुद्धि की शक्ति मानना चाहिए। इसलिए प्राण शिथिल होने पर शरीर की क्रियाशीलता भी शिथिल हो जाती है और बुद्धि के शिथिल होने पर ज्ञान के बोध की क्रिया शिथिल हो जाती है। बुद्धि जागृत अवस्था में पूर्ण क्रियाशील रहती है। स्वप्न में जागृत अवस्था जैसी नहीं रहती और सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि की पूर्ण अक्रिय अवस्था मानी जाती है।

प्रश्न 81. तामस अहंकार के विकृत होने पर किस तत्त्व की उत्पत्ति होती है ?

उत्तर : तामस अहंकार के विकृत हो जाने पर शब्द तन्मात्र की उत्पत्ति हो जाती है। ऐसा शास्त्रों का कथन है। शब्द तन्मात्र से आकाश और श्रोत्र नामक इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। फिर क्रमशः अन्य पंच महाभूतों तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम रहता है।

प्रश्न 82 अन्य पंचमहाभूत तथा इन्द्रियां किसप्रकार शब्द तन्मात्र से क्रमिक उत्पन्न होती है?

उत्तर : शब्द तन्मात्र के विकृत होने से स्पर्श तन्मात्र की उत्पत्ति होती है जिससे वायु और त्वगेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार स्पर्श तन्मात्र के विकृत होने पर रूप तन्मात्र की उत्पत्ति होती है तथा रूप तन्मात्र से ही तेज अर्थात् अग्नि और नेत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी जाती है। रूप तन्मात्र के विकृत होने पर रस तन्मात्र की उत्पत्ति हो जाती है जिससे जल तथा रसनेन्द्रिय की उत्पत्ति हो जाती है। रस तन्मात्र के विकृत होने पर गंध तन्मात्र की उत्पत्ति होती है, जिससे पृथ्वी तथा घ्राणेन्द्रिय का प्रार्दुभाव हो जाता है। आकाश का गुण शब्द है। वही गुण श्रोत्र नामक इन्द्रिय का भी है। वायु का गुण स्पर्श है।

वहीं गुण त्वगेन्द्रिय का है। तेज का गुण रूप है वही गुण नेत्रेन्द्रिय का है। जल का गुण रस है वही रसनेन्द्रिय का है। पृथ्वी का गुण गंध है घ्राणेन्द्रिय का गुण है।

प्रश्न 83. परा प्रकृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : परा प्रकृति परमात्मा का साक्षात् अंश है जो जीवरूपा है तथा चेतन तत्त्व है। जब प्राणियों के शरीर का निर्माण अपरा प्रकृति के द्वारा हो जाता है तो वह जड़ रहता है। जड़ का अर्थ है कि वह हिलता डुलता नहीं है। उसमें कोई गति और चेष्टा नहीं होती है। अपरा प्रकृति के द्वारा निर्मित उस शरीर को चेतन करने के लिए परमात्मा का साक्षात् अंश उस शरीर में प्रवेश कर जाता है तब वह जड़ शरीर चेतन हो जाता है और क्रियाशील रहता है। इस परमात्मा के साक्षात् अंश को परा प्रकृति कहा जाता है। इसे जीव, शरीरी, देही, आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया जाता है।

प्रश्न 84. जीवात्मा परमात्मा का साक्षात् अंश है ? ऐसा वर्णन क्या श्रीगीताजी में आता है?

उत्तर : श्रीभगवान ने श्रीगीताजी के 15वें अध्याय के सातवें श्लोक में **ममैवांशों जीवलोके जीवभूतः सनातनः** कहकर इसकी पुष्टि की है। श्रीभगवान के इस कथन को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्री भगवान के शब्द स्वतः ही प्रमाण हैं। इस प्रकार जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा जाता है, माना जाता है। शास्त्रों का ऐसा ही कथन है। मर्मज्ञ महापुरूषों ने ऐसा ही माना है। इस कारण हमें भी ऐसा ही मानना चाहिए।

प्रश्न 85. जीवात्मा परमात्मा का अंश है तो इसका विशिष्ट कार्य तथा परिमाण क्या है ?

उत्तर : जीवात्मा के परिमाण का शास्त्रों में उल्लेख आता है। बाल के अग्रभाग के दस हजारवें अंश के बराबर जीवात्मा का परिमाण अर्थात् आकार माना जाता है। इतने सूक्ष्म आकार के होने के बावजूद यह मानव शरीर के प्रत्येक आन्तरिक तथा बाह्य अंगों को क्रियाशील रखती है और प्रकाशित करती है। जैसे एक सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है तथा क्रियाशील रखता है। वैसे ही जीवात्मा भी समस्त प्राणियों के शरीर को प्रकाशित रखती है तथा क्रियाशील करती है। चींटी जैसे सूक्ष्म प्राणी तथा हाथी जैसे विशालकाय प्राणियों में भी एक ही आकार की जीवात्मा रहती है। चींटी का शरीर भी उतने ही आकार की जीवात्मा से क्रियाशील रहता है और हाथी का विशालकाय शरीर भी उतने

ही आकार की जीवात्मा के द्वारा प्रकाशित रहता है। इस कारण यह जीवात्मा विशिष्ट है। इस जीवात्मा से ही इस जगत का धारण होता है। अपरा प्रकृति इस जगत के जीवों का निर्माण तो कर देती है परन्तु अपरा प्रकृति के द्वारा निर्मित समस्त शरीर तब तक चेतन और क्रियाशील नहीं हो सकता है जब तक परा प्रकृति अर्थात् जीव शरीर को क्रियाशील नहीं करता है। इस प्रकार परा प्रकृति विशिष्ट है जो जगत का धारण करती है।

प्रश्न 86. जीवात्मा के विशिष्ट गुण क्या हैं ?

उत्तर : परमात्मा का अंश होने के कारण जीवात्मा परमात्मा की सहधर्मी है। इसलिए विशिष्ट गुणों से युक्त है। परमात्मा के गुणों से वह भी विभूषित है। सम्पूर्ण संसार में प्रत्येक वस्तु विनाशी है इस कारण उसे विनाशशील गुण वाला कहा जाता है। परन्तु जीवात्मा विनाशी नहीं होती है, इस कारण उसे अविनाशी कहते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु पदार्थ का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो जाता है। इस गुण को प्रमेय कहा जाता है। परन्तु जीवात्मा का ज्ञान बुद्धि से नहीं हो सकता है। उसका बोध बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता है, इसलिए उसे **अप्रमेय** कहते है, जीवात्मा का यह गुण बुद्धि की ज्ञान शक्ति से बाहर होने के कारण है। बुद्धि जड़ तत्त्व है और जीव चेतन तत्त्व है। जड़ तत्त्व से चेतन तत्त्व को नहीं जाना जा सकता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ अनित्य है क्योंकि समय के साथ उसका विनाश हो जाता है परन्तु समय के साथ जीवात्मा का विनाश नहीं होता, इस कारण वह **अविनाशी** है। संसार का प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह प्रक्रिया सृष्टि के आरम्भ से ही अर्थात् आदिकाल से निरन्तर चलती चली आ रही है परन्तु जीवात्मा का जन्म नहीं होता है। वह सृष्टि के प्रभाव से ही जन्मरहित है। इस कारण वह **अजन्मा** है। संसार का प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है। समय के साथ उसका परिवर्तन हुआ करता है, परन्तु जीवात्मा का परिवर्तन समय के साथ नहीं होता है इस कारण वह **शाश्वत** है। जब से सृष्टि हुई है वह अवधि करोड़ों वर्षो की है। सृष्टि होने से अब तक कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जैसा सृष्टि के आदिकाल में था, परन्तु जीवात्मा आदिकाल से ही वैसी ही है, इसलिए इसे **पुरातन** कहा जाता है। संसार के प्रत्येक पदार्थ का समापन समय के साथ होता जाता है, परन्तु जीवात्मा जिस आकार प्रकार की सृष्टि के आदि में थी वह आज भी वैसी ही है इस कारण उसे **अव्यय** कहते हैं। संसार के पदार्थो को काटा जाना संभव है, परन्तु कोई भी शस्त्र जीवात्मा को काट नहीं सकते हैं। इस कारण जीवात्मा को **अच्छेद्य** कहा जाता है। अग्नि संसार की प्रत्येक वस्तु को जलाकर राख कर देती है परन्तु जीवात्मा को अग्नि नहीं जला सकती है। इस कारण जीवात्मा का एक गुण **अदाह्य** भी है। जल संसार की वस्तुओ को गीला कर देता है अर्थात् भिगो देता है

परन्तु जीवात्मा को जल के द्वारा भिगोया नहीं जा सकता है। इस कारण इसको **अक्लेद्य** कहते हैं। वायु जीवात्मा को सुखा नहीं सकती है, इस कारण जीवात्मा के इस गुण को **अशोष्य** कहा जाता है।

संसार की अधिकतर वस्तुओं देखी जाती है तथा उनका स्पर्श के द्वारा आभास किया जाता है इस कारण उन्हें व्यक्त कहा जाता है परन्तु जीवात्मा को देखा नहीं जा सकता और न तो इसे स्पर्श किया जा पाना संभव है, इसलिए इसे **अव्यक्त** कहते हैं। सांसारिक वस्तुओं के बारे में उनके विषय के बारे में चिंतन किया जा पाना संभव है परन्तु जीवात्मा के बारे में चित्त चिंतन नहीं कर सकता है। इसलिए जीवात्मा के इस गुण को **अचिन्त्यस्वरूप** कहा जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु विकारी है। अर्थात् उसमें निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है, परन्तु जीवात्मा परिवर्तनशील नहीं है, इसलिए वह **अविकारी** नाम से कही जाती है। इस प्रकार यह जीवात्मा के कुछ विशिष्ट गुण हैं जिनका उल्लेख इस स्थल पर किया गया है।

प्रश्न 87. जीवात्मा तथा परमात्मा में क्या समानता है ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर सरलतापूर्वक आप समझ सकते हैं। जैसे समुद्र विशाल जलराशि है परन्तु जल की एक बूंद भी उसी का अंश है। जल की बूंद सागर से पृथक् हुई है तथा उसमें सागर के जल के समान ही गुण हैं, क्योंकि वह विशाल सागर का अंश है। यदि वह बूंद सागर के जल में मिलती है तो वह एकरूप हो जाएगी। सागर से पृथक् होने पर उसका पृथक् अस्तित्त्व प्रतीत होता है, रहता है। परन्तु वह सागर में समाहित होने पर सागर का रूप ले लेती है। परमात्मा समुद्रवत् है। जीवात्मा एक बूंद के रूप में है। ऐसे ही एक विशाल पहाड़ से उसका एक छोटा सा टुकड़ा पृथक् हो जाए तो वह अपना पृथक् अस्तित्त्व रखता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु पहाड़ के उस टुकड़े में तथा उस पहाड़ के गुणों में अंतर नहीं है। उसमें एक समानता है इसी प्रकार परमात्मा एक विशाल पहाड़ है तथा जीवात्मा एक छोटा टुकड़ा है। जीवात्मा और परमात्मा की समानता के भाव को इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रश्न 88. परमात्मा के विशिष्ट गुण और स्वरूप क्या है ?

उत्तर : परमात्मा के अनन्त गुण हैं। वेदों, शास्त्रों, दार्शनिक ग्रंथों, स्मृतियों, पौराणिक आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रंथों रामायण आदि में उसके बहुत से गुणों का उल्लेख किया गया है। वैसे ही प्रार्थना के रूप में विशेष है। ऋग्वेद की विशिष्ट प्रार्थनाऐं परमात्मा के

गुणों को प्रकट करती हैं। परमात्मा के तीन विशिष्ट गुण हैं। वह जगत की सृष्टि करता है उसकी स्थिति बनाये रखता है अर्थात् पालन पोषण करता है तथा कल्प के अन्त में इसका विनाश कर देता है। इस कारण परमात्मा सृष्टिकर्ता है, पालन पोषण करने वाला है, प्रलय कर्ता भी है। इसके अतिरिक्त उस परमात्मा में अन्य भी बहुत से उत्कृष्ट गुण हैं। कुछ का अवलोकन कीजिए।

(एक) प्रकाशस्वरूप : परमात्मा अत्यंत तेजोमय है उसके समान कोई प्रकाशमय नहीं है। सहस्त्रों सूर्यो के एक साथ उदय हो जाने पर भी जो प्रकाश हो उस प्रकाश से भी अधिक उस परमात्मा का प्रकाश है इसलिए उसे प्रकाशस्वरूप कहा जाता है।

(दो) सत्स्वरूप : यह सम्पूर्ण जगत असत् है, क्योकि यह सबका सब समय के साथ समाप्त होने वाला है, परन्तु परमात्मा सर्वशक्तिमान है और वह समय के साथ समाप्त नहीं होता है। इसलिए उसे सत्स्वरूप कहा जाता है।

(तीन) करूणामय : वह परमात्मा अत्यंत दयालु है तथा वह सभी को अपना पुत्र समझ कर सभी पर दया करता है। प्रार्थना करने पर कृपा के रूप में स्वयं प्रकट हो जाता है तथा हमारी अनेक त्रुटियों को क्षमा कर देता है। इस कारण वह करूणामय है।

(चार) आदि अन्त विहीन : जगत की सृष्टि होती है। यह सृष्टि कल्प से आरम्भ होती है और कल्प के अन्त में समाप्त हो जाती है। इस प्रकार समस्त ब्रह्मांड ही आदि अंत स्वरूप वाला है, परन्तु परमात्मा का न तो आदि होता है और आदि न होने के कारण उसका अंत भी नहीं होता है। इस कारण उस परमात्मा को आदि अन्त से विहीन कहा जाता है।

(पांच) सर्वत्रव्याप्त : परमात्मा ब्रह्मांड के प्रत्येक स्थान में उपस्थित है। इसी कारण श्रीगीताजी में **सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।** अर्थात् वह परमात्मा सब ओर हाथ पैरों, मुख नेत्रों सिर वाला है। सर्वत्र पैर होने से प्रत्येक स्थल पर उसकी नित्य उपस्थिति रहती है। सर्वत्र हाथ होने से वह हमारी प्रार्थना का फल दे सकता है तथा सहायता करने में समर्थ है। सर्वत्र नेत्र होने से वह सब कुछ देखता है। सर्वत्र मुख होने से हमारे द्वारा प्रस्तुत किये गए भोज्य पदार्थो को ग्रहण कर लेता है। सब ओर सिर होने से वह हमारे द्वारा की गई प्रार्थना को स्वीकार करता है। इस भाव से वह सर्वत्र व्याप्त है।

(छः) अद्वितीय : उस परमात्मा के सदृश ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, शक्ति, सामर्थ्य, स्वरूप, आदि में कोई नहीं है। वह एक है उसके सम्मुख दूसरा कोई नहीं है। इस कारण उसे अद्वितीय कहा जाता है। उसके समान कोई सत्ता वाला नहीं है, इसलिए भी वह अद्वितीय है।

(सात) अभावरहित : मनुष्य अभावसहित है और परमात्मा अभावरहित है। प्रत्येक वस्तु, क्रिया स्थिति का वह भाव रखता है। उसको प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु, पदार्थ, स्थिति नहीं है। सभी उसे प्राप्त है। उपलब्ध है। वहां पर भाव ही भाव है। कुछ भी अभाव नहीं है। इसलिए उस परमात्मा को अभावरहित कहा जाता है।

(आठ) अप्रमेयस्वरूप : जैसे मनुष्य जगत की वस्तुओं के बारे में जानता है वैसा जानना परमात्मा के बारे में नहीं होता है। इस कारण उस परमात्मा को अप्रमेयस्वरूप कहा जाता है। अप्रमेय का अर्थ है कि उसे जाना नहीं जा सकता है। सरलतापूर्वक उसका बोध नहीं किया जा सकता है।

(नौ) अचिंत्यस्वरूप : मनुष्य किसी तथ्य के बारे में मन और बुद्धि से विचार और चिंतन किया करता है तथा चिंतन के पश्चात् उस तथ्य और वस्तु को जान सकता है। परन्तु परमात्मा मन और बुद्धि के चिंतन का विषय नहीं है। अर्थात् वह मन बुद्धि से बाहर की विषय वस्तु है। इस कारण उस परमात्मा को अचिन्त्यस्वरूप कहा जाता है।

(दस) अनन्त : उस परमात्मा को किसी भी संख्या से सीमित किया जा पाना संभव नहीं है। इस कारण उसका अन्त भी नहीं है और अन्त न होने से वह अनन्त कहा जाता है।

(ग्यारह) निर्मल : हम सभी मनुष्य और प्राणी समुदाय मल से युक्त रहते हैं आन्तरिक और बाह्य मल हमें मलयुक्त बनाते हैं। इसीलिए हमें स्नानादि तथा तपश्चर्या की आवश्यकता होती है, परन्तु परमात्मा मलसे रहित है। इसलिए उसे निर्मल कहा जाता है। मनुष्य को अपनी गंदगी को साफ करने के लिए प्रयास करना पड़ता है क्योंकि वह गंदगी अर्थात् मल स्वतः ही आता है, परन्तु परमात्मा में मल नहीं है इसलिए वह निर्मल है।

(बारह) पूर्ण शान्त : जो अशान्त नहीं है वह ही पूर्ण शान्त है। मनुष्य के लिए यह स्थिति असाधारण है, क्योंकि तत्त्वानुभूति तथा त्रिगुणों से अतीत मनुष्य ही पूर्ण शान्त हो जाता है। वैसे ही परमात्मा भी पूर्ण शान्त है, इसकारण वह पूर्णशान्त गुण से विभूषित किया जाता है।

(तेरह) मायातीत : माया बहुत दुष्तर है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य माया के जाल में फंसा रहता है, परन्तु माया के जाल को जान पाना और उससे मुक्त हो पाना अत्यंत दुष्तर कार्य है। वहीं माया जो संसार को नचाती है वह परमात्मा के अधीन रहती है। माया से परे होने के कारण ही परमात्मा को मायातीत कहते हैं। यह परमात्मा का विशेष गुण है।

(चौदह) स्वयं प्रकाशित : परमात्मा स्वयं प्रकाशित है। वह सूर्य, अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। सूर्य में जो प्रकाश है चन्द्रमा में जो प्रकाश है अग्नि में जो प्रकाश और

तेज है वह परमात्मा के द्वारा इन सभी को प्रदान किया जाता है। इसप्रकार परमात्मा स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित है। वह अन्य को प्रकाश देता है इसलिए स्वयं प्रकाशित कहा जाता है।

(पन्द्रह) नित्य : वह परमात्मा सदा, सर्वदा, सर्वकालिक है, इसलिए उसे नित्य कहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में, मध्य में, तथा सृष्टि के अंत में उसकी स्थिति रहती है। जब प्रलय हो जाता है तो उसके पश्चात् भी वह रहता है इसलिए वह नित्य है निरन्तर है। उसका कभी अभाव नहीं होता है, इसलिए भी वह नित्य है।

(सोलह) स्वतः प्रमाण : परमात्मा स्वतः प्रमाण है। जगत की वस्तुओं को प्रमाण की आवश्यकता रहती है, क्योंकि वह स्वतः प्रमाण नहीं हैं। परन्तु परमात्मा तो स्वतः प्रमाण है उसे जगत के किसी भी प्रमाण की आवश्यकता किसी भी प्रकार से नहीं है। हम उसे जगत की वस्तुओं के सापेक्ष सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिए भी वह स्वतः प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित है।

(सत्रह) आनन्द स्वरूप : हम सभी को अनुकूलता जब प्रतीत होती है तो हमें आनन्द की अनुभूति रहती है। उस आनन्द से अनन्त गुना आनन्द उस परमात्मा की अनुभूति कर लेने के पश्चात् रहता है। परमात्मा के आनन्द स्वरूप की अनुभूति कर लेने के उपरान्त समस्त दुःखों का विनाश हो जाता है तथा प्रतिकूलताओं के अभाव का विनाश हो जाता है इस प्रकार वह परमात्मा आनन्द स्वरूप है।

(अठ्ठारह) त्याग तथा ग्रहण के परे : उस परमात्मा का त्याग नहीं हो सकता तथा न ही उसे ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि वह नित्य ग्रहण है। परमात्मा मनुष्य के शरीर के हृदय में रहता है। इस प्रकार उसका नित्य ग्रहण रहता है। उसके ग्रहण तथा त्याग की क्रियाऐं नहीं हो सकती हैं, इसलिए वह त्याग और ग्रहण से नितांत परे है।

(उन्नीस) श्रीगीता जी में परमात्मा के विशिष्ट गुणों का वर्णन अध्याय 13 के तेरहवें श्लोक से सत्रहवें श्लोक तक विस्तार से किया गया है उसका अवलोकन कीजिए–

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।

भावार्थ : वह परमात्मा सभी ओर हाथ पैरों वाला है। वह परमात्मा सभी ओर आंखों, सिरों, तथा मुखों वाला भी है। उसके कान भी सर्वत्र हैं। इस कारण वह सबकी प्रार्थना को सुन लेता है। वह सभी को आवृत करके स्थित रहता है। वह परमात्मा समस्त इन्द्रियों से विहीन है परन्तु समस्त इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति रखने वाला है तथा विषयों को प्रकाशित करने वाला भी है। वह परमात्मा समस्त प्रकार की सांसारिक आसक्तियों से रहित है। वह परमात्मा समस्त जगत का पालन पोषण करने वाला है तथा समस्त गुणों से रहित रहकर भी सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता है। वह परमात्मा समस्त प्राणियों के बाहर भी है तथा भीतर भी है। चराचर जगत में भी उसकी उपस्थिति है वह परमात्मा बहुत दूर से दूर है तथा अत्यंत निकट से निकट है। उसका आकार अत्यंत सूक्ष्म है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है इसलिए उसे नहीं जाना जा सकता है। वह परमात्मा अविभक्त है अर्थात् बॅटा हुआ नहीं है परन्तु वह समस्त जगत के प्राणियों में विभक्त हुए आभासित होता है। वह समस्त प्राणियों की उत्पत्ति करने का कारण है अर्थात् उत्पन्न करने वाला है तथा समस्त प्राणियों का भरण पोषण करता है तथा यथासमय उनका संहार भी करता है। ब्रह्मांड में जितनी भी ज्योतियां हैं उन समस्त ज्योतियों का भी वह ज्योति है। तम अर्थात् अंधकार से अत्यंत परे है। ज्ञान के रूप में है तथा ज्ञान से ही उसकी अनुभूति हो सकती है और समस्त प्राणियों के हृदय में उपस्थित है।

प्रश्न 89. वह परमात्मा निराकार है अथवा साकार है, परमात्मा सगुण है अथवा निर्गुण है ?

उत्तर : मनुष्य अपनी बुद्धि से प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति, स्थिति के आकार तथा गुणों का विनिश्चय अथवा निर्धारण करता है परन्तु परमात्मा बुद्धि की ज्ञान शक्ति से परे की सत्ता है। हम उसका विनिश्चय बुद्धि के द्वारा कदापि नहीं कर सकते हैं। बुद्धि जड़ है परमात्मा चेतन है। चेतन का विनिश्चय जड़ नहीं कर सकती है। हम परमात्मा के आकार तथा गुणों का विनिश्चय जब अपनी बुद्धि से करने का प्रयास करते हैं तो यह अज्ञानजनित कार्य है। मनुष्य के ज्ञान की सीमाऐं है, परन्तु परमात्मा असीमित ज्ञान वाला है। जैसे हम समुद्र की गहराई, विशालता का निर्धारण उसे बिना देखे ही करें तो यह कार्य हमारी कल्पना के रूप में ही कहा जाएगा। वह यथार्थ के बहुत परे होगा।

जब हमने परमात्मा को देखा नहीं है उसके अस्तित्त्व का बोध नहीं किया है तो हम उसके स्वरूप, आकार, गुण का निर्धारण कैसे कर सकते हैं। कुछ महानुभाव उस परमात्मा

को साकार कहते हैं कुछ निराकार कहते हैं कुछ सगुण बताते हैं और कुछ निर्गुण कहने लगते हैं। यह कहना, बताना, उस परमात्मा की व्याख्या करना सर्वथा अनुचित है। परमात्मा के सम्बंध में निर्धारण का यह कार्य हम अपनी बुद्धि से करते हैं। यह ठीक नहीं है तर्कसंगत तो कतई नहीं है तथा वास्तविकता से बहुत परे है। हमें कभी भी परमात्मा के स्वरूप तथा आकार, गुणों के निर्धारण का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमारे द्वारा वह परमात्मा निर्धारित नहीं किया जा सकता है। उस परमात्मा ने हमको उत्पन्न किया है और वह इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति का निमित्त और उपादान कारण है। ऐसी महान सत्ता के आकार तथा गुणों का विनिश्चय हम नहीं कर सकते हैं। हम जब परमात्मा को निराकार, साकार, सगुण, निर्गुण बताकर उसकी व्याख्या का प्रयास करते हैं तथा तर्क देकर अपने कथन को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं तो यह बहुत तुच्छ कार्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है। एक छोटा सा व्यक्ति आकाश को नहीं छू सकता है। वैसे ही हम भी उस परमात्मा के आकार तथा गुणों का विनिश्चय नहीं कर सकते हैं। वह परमात्मा अनन्त आकार तथा गुणों वाला है। वह निराकार भी है। साकार भी है। सगुण भी है। निर्गुण भी है। हम जहां तक विचार कर सकते हैं उस विचार के आगे तक भी उसका अस्तित्त्व है। उसकी सत्ता है। उसका रूप है। उसका गुण है। उसका आकार है।

प्रश्न 90. वह परमात्मा निराकार कैसे है ?

उत्तर : उस परमात्मा के आकार का विनिश्चय नहीं किया जा सकता है, इसलिए वह निराकार है। मनुष्य अपने आकार को देख सकता है। इस कारण वह साकार है। संसार की वस्तुओं के आकार का निर्धारण रहता है। छोटे, बड़े, मोटे, पतले, ऊंचे, नीचे, वर्गाकार, आयताकार आदि आदि आकार है, जिससे वस्तुओं के आकार का विनिश्चय होता है। वस्तुओं के आकार की तरह से परमात्मा के आकार का विनिश्चय नहीं होता है। नहीं किया जा सकता है, इस कारण वह परमात्मा निराकार है। वेदों, शास्त्रों, में उसके आकार का विनिश्चय नहीं है। उसकी अनुभूति की प्रक्रिया का वर्णन है। किसी भी धर्मग्रंथ इसके आकार का विनिश्चय नहीं करता है, उसकी अनुभूति का विनिश्चय करता है। इसकारण अनगिनत ग्रंथों में उसके आकार का निर्धारण न होने के कारण वह निराकार है। हम अपनी बुद्धि से उसके आकार को नहीं देख सकते हैं, इस कारण वह निराकार है। वह न तो छोटा है, न विशाल है, न गहरा है, न उथला है, न ऊंचा नीचा है इस कारण आकार विहीन होने के कारण वह निराकार है।

प्रश्न 91. वह परमात्मा साकार कैसे है ?

उत्तर : वह परमात्मा ही ब्रह्मांड की समस्त वस्तुओं सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रहों, नक्षत्रों आदि के रूप में परिवर्तित हो गया है। पृथ्वी के रूप में भी वह आ गया है। पृथ्वी में जो भी समुद्र, पहाड़, वन, आदि है अर्थात् चराचर जगत में इन सबके रूप में उसका आकार है। पृथ्वी में जो भी हम देखते हैं वह परमात्मा के रूप में है। एक परमात्मा ने ही विभिन्न आकार दे दिए हैं इस कारण वह साकार हो गया है। उस परमात्मा ने अपने रूप को स्वरूप को विभिन्न रूपों में परिवर्तित कर दिया है। जिस प्रकार एक वृक्ष की लकड़ी कुर्सी मेज आदि रूपों में परिवर्तित हो जाती है, परन्तु वह मूलतः लकड़ी ही है। इसी प्रकार इस संसार में जितनी भी वस्तुऐं हैं वह मूलतः परमात्मा के रूप में है। इसी तथ्य को श्रीगीता जी में श्री भगवान ने स्पष्ट कहा है–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।

भावार्थ–उस परमात्मा के अतिरिक्त इस जगत में अन्य कुछ भी नहीं है। वह एक परमात्मा ही धागे में मणियों के समान पिरोया हुआ है। यह परमात्मा का साकार स्वरूप है।

इसके अतिरिक्त श्रीभगवान ने जब अर्जुन को गीता का उपदेश दिया तब अर्जुन ने 11वें अध्याय के तीसरे श्लोक में यह कहा कि आप ने अपने को ईश्वर कहा है। मैं उसे मानता हूं परन्तु मैं आपके उस ईश्वरीय स्वरूप को देखना चाहता हूं। यह श्रीभगवान के द्वारा दसवें अध्याय तक प्रस्तुत स्वरूप की स्वीकारोक्ति ही है, परन्तु ईश्वरीय स्वरूप के बारे में जिज्ञासा तथा संशय भी है। अर्जुन की जिज्ञासा तथा संशय के निवारण हेतु श्री भगवान ने अपना ईश्वरीय स्वरूप दिखाया। **(गीता 11/9 से 14 श्लोक तक)** अर्जुन ने उस स्वरूप का वर्णन **11वें अध्याय के 15वें श्लोक से 21वें** श्लोक तक प्रस्तुत किया है। ऐसी घटना विश्व के इतिहास में कहीं नहीं हुई। यह निराकार स्वरूप के साकार स्वरूप में परिवर्तित होने का एक उदाहरण है। चूंकि यह घटना श्रीगीताजी में वर्णित है, इस कारण हमें इसे मानना पड़ता है। वही एक परमात्मा निराकार होकर भी साकार हो गया।

प्रश्न 92. वह परमात्मा निर्गुण कैसे है ?

उत्तर : यह समस्त जगत यहां तक कि देवलोक भी गुणों अर्थात् सत्त्व, रज, तम से आवृत है, प्रभावित है तथा उन्हीं के प्रभाव से समस्त क्रियाऐं होती हैं। मनुष्य जिस गुण से प्रभावित रहता है वैसी ही क्रियाऐं भी करता है। सत्त्वगुण के प्रभाव से शुभ कर्म करता है। रजोगुण के प्रभाव से अनेक सांसारिक कर्म करता है तथा तमोगुण के प्रभाव से दूषित कर्म करता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य गुणों के प्रभाव से ही कर्म करता रहता है। हमारी समस्त चेष्टाऐं और गतिविधियां गुणों के प्रभाव से सम्पन्न होती जाती हैं। इस प्रकार

समस्त संसार ही गुणों से गतिशील है। वह परमात्मा इन त्रिगुणों से परे है तथा गुणों के प्रभाव से प्रभावित नहीं है। गुणों के प्रभाव से उसकी चेष्टाऐं तथा क्रियाऐं नहीं होती हैं। इस कारण वह परमात्मा निर्गुण है।

प्रश्न 93. वह परमात्मा सगुण कैसे है ?

उत्तर : वह परमात्मा अनन्त गुणों से विभूषित है। संसार में जितने भी गुण हैं वह उनकी प्रतिमूर्ति तथा पर्याय है। सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, संतोष, करूणा, सरलता, शम, दम, समता, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तेज, बल, कान्ति, धैर्य आदि आदि गुणों की वह प्रतिमूर्ति ही है। वह परमात्मा अनन्त गुणों वाला है। वह गुणों का सागर होने से सगुण है। संसार में ऐसा कोई गुण नही है जो उसमे ंविद्यमान न हो। हम जिन गुणों की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं अर्थात् जो गुण हमारी कल्पना शक्ति से बाहर हैं वह भी परमात्मा में उपस्थित हैं। लोग उसे भला बुरा कहते हैं। अपशब्द कहते हैं परन्तु वह ऐसा करने वालों को भी भोजन देता है। इससे अधिक गुण वाला और कौन हो सकता है? इस प्रकार समस्त गुणों की सम्पन्नता से ही उसे सगुण स्वरूप में प्रतिष्ठित किया जाता है।

प्रश्न 94. वह परमात्मा सर्वत्र उपस्थित रहकर, हमारे हृदय में रहकर भी हमें दिखाई क्यों नहीं पड़ता है ?

उत्तर : हमने सच्चे हृदय तथा मन से उसे देखने का कभी प्रयास नहीं किया है। हमारा प्रयास संसार की वस्तुओं की और स्थितियों की प्राप्ति की ओर रहता है। हम संसार के बारे में जागने के पश्चात् तथा सोने तक बहुत विचार करते हैं तथा प्रयास भी करते रहते हैं। हम जिसके लिए प्रयास करते हैं वह हमें प्राप्त हो जाता है। हमने कभी उसे देखने का प्रयास नहीं किया है, इस कारण वह हमें दिखाई नहीं पड़ता है। हमने संसार को देखने का प्रयास किया है इस कारण हमें संसार दिखाई पड़ता है। परमात्मा को देखने का प्रयास हमने कभी नही किया है, इस कारण वह परमात्मा हमें दिखाई नहीं पड़ता है।

एक कारण प्रयास का न होना तथा दूसरा कारण हमारे अंतःकरण में अनेक दोषों का होना भी है। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि आदि अनेक दोष हमारे अंतःकरण में उपस्थित रहते हैं। इसकारण भी वह हमें दिखाई नहीं पड़ता है। जैसे गंदे पानी में स्वच्छता नहीं रहती तथा जब गंदगी नीचे बैठ जाती है तब जल स्वच्छ हो जाता है और उसकी स्वच्छता स्वतः ही झलकती है। इसी प्रकार हमारे अंतःकरण में उपस्थित अनेक दोष जब शान्त हो जाते हैं तब हम मलरहित हो जाते हैं और हमें परमात्मा की

अनुभूति हो जाती है। गोस्वामी जी भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं और कहते हैं निर्मल मन जन सो मोहि पावा। अर्थात् परमात्मा को वही देख सकता है जिसका मन मल रहित हो यह दोष ही मल स्वरूप है, जिससे हमारा मन आच्छादित हो गया है। जिस कारण परमात्मा की प्रतीति नहीं होती हैं।

प्रश्न 95. दोषों में प्रमुख दोष कौन है जो परमात्मा की अनुभूति में विशेष बाधक है ?

उत्तर : दोषों में तीन दोष प्रमुख हैं जिन्हें 1– कामना 2– क्रोध 3– लोभ कहा जाता है। इन तीन दोषों के कारण अन्य दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं। संसार में रहकर मनुष्य में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाऐं उत्पन्न हो जाती हैं और कामनाऐं वस्तुओं तथा व्यक्तियों के आकर्षण एवं सुख के आभास के कारण होती है। हमें अमुक वस्तु प्राप्त हो जाएगी तो हमें सुख मिलेगा इस विचार से कामनाऐं उत्पन्न होती हैं। किसी वस्तु की कामना के पूर्व हमें उससे सुख लगता है, प्रतीत होता है। सुख की प्रतीति न हो तो कामना उत्पन्न ही नहीं होगी। इस कारण कामना की उत्पत्ति का यह नियम है कि हमें उस वस्तु में प्रियता का आभास होता है। इस कारण उस वस्तु की कामना का उद्‌भव हो जाता है। कामना के उद्‌भव से हम उसकी पूर्ति अर्थात् कामना में आयी हुई वस्तु की प्राति का प्रयास करते हैं। यह प्रयास निरन्तर रहता है, क्योंकि कामनाऐं अनन्त हैं और जीवनपर्यन्त रहती है। सांसारिक वस्तुओं की सीमा भी नहीं है, इस कारण भी अनन्त कामनाऐं रहती हैं। कामनाओं की प्राप्ति का उनकी पूर्ति का हम प्रयास करते हैं तो कोई भी अवरोध आने पर तत्काल क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कामनाओं की पूर्ति में बाधक तत्वों के प्रति क्रोध, ईर्ष्या,द्वेष आदि भाव उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार कामना ही क्रोध की उत्पत्ति का मूल कारण तथा अन्य दोषों ईष्या द्वेष की उत्पत्ति कामना से हो जाती है। इस प्रकार एक कामना क्रोध रूपी दोष को उत्पन्न करती है तथा ईष्या दोष उत्पन्न करके हिंसावृत्ति का कारण बन सकती है।

जब मनुष्य की एक कामना पूरी हो जाती है तो वह अन्य कामनाओं की पूर्ति हेतु प्रयत्न करने लगता है। एक कामना के पश्चात् दूसरी तथा दूसरी के पश्चात् तीसरी कामना की उत्पत्ति होती रहती है। इस प्रकार क्रमिक कामनाएं उत्पन्न होती रहती है और उनकी पूर्ति का प्रयास चला करता है। यह स्थिति निरन्तर चलती रहती है। संसार की वस्तुओं की प्राप्ति का निरन्तर प्रयास का बना रहना ही लोभ है। यह लोभ नामक दोष जीवन पर्यन्त मनुष्य के साथ रहता है। इसी लोभ के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के

अनैतिक कर्म, हिंसादि कर्म भी करता है। जो पाप के हेतु हो जाते है। लोभ के कारण ही पाप होता है। अर्थात् लोभ ही पाप का मूल है। इस प्रकार कामना, क्रोध और लोभ के कारण मनुष्य परमात्मा की अनुभूति से वंचित रह जाता है।

प्रश्न 96. परमात्मा की अनुभूति में अन्य बाधाएं क्या है ?

उत्तर : परमात्मा की अनुभूति में अन्य प्रकार की बाधाएं भी है जैसे परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास न रखना अर्थात् आस्तिक भाव की कमी, अनेक प्रकार के संशयों की उत्पत्ति तथा निरन्तर साधन की शिथिलता का अभाव। परमात्मा की अनुभूति में विशेष बाधक रहते है। साधना की प्रारम्भिक स्थिति में इस भावना को दृढ़ करना पड़ता है कि परमात्मा की सत्ता सर्वत्र है तथा उसकी व्यवस्था इस ब्रम्हांड पर दृष्टिगोचर हो रही है। वह एक ही सर्वत्र व्याप्त है तथा समस्त जीवों के हृदय में रहकर जीवों की प्रत्येक गतिविधि को देखता है। वह परमात्मा है वह निश्चित है वह हमारे साथ है नित्य निरन्तर है। ऐसा संशय रहित भाव ही आस्तिक भाव है। जब आस्तिक भाव दृढ हो जाता है तब उसकी अनुभूति की भावना का उदय होता है। अनुभूति की प्रक्रिया में साधक मनुष्य अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है। साधनकाल में यह संशय रहता है कि हमारा साधन सही है अथवा नहीं है। परमात्मा अव्यक्त है इस कारण व्यक्त वस्तुओं की तरह से उसकी प्राप्ति नहीं होती है। इसकारण साधन के प्रकार के बारे में भी संशय रहता है। कभी कभी ईष्ट के बारे में भी संशय हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में साधन की क्रिया तथा ईष्ट के विषय में संशय रहता है और साधन का उचित फल प्राप्त न होने पर इसमें बढ़ोत्तरी हो जाती है। परमात्मा की अनुभूति का प्रयास पूरी शक्ति तथा मनोयोग से न किया जाए तो परमात्मा की अनुभूति में बाधा रहती है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति जब पूरी शक्ति से नहीं होती है तब वांछित वस्तुओं की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो पाती है। इसी प्रकार जब तक अनुभूति न हो तब तक साधक को बिना उकताए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार साधन में प्रयास की अपूर्णतः से भी अनुभूति में बाधा रहती है। प्रयास का मनोयोग से न करना एक प्रमुख बाधा है।

प्रश्न 97. परमात्मा की अनुभूति का भक्तियोग साधन क्या है ?

उत्तर : हम संसार में अनेक वस्तुओं तथा व्यक्तियों से स्नेह करते है। उनमें से कुछ वस्तुओं तथा व्यक्तियों से हमें बहुत स्नेह हो जाता है तथा उनके बिना हम अपने जीवन को निष्फल, बेकार, अनुपयोगी मानते है। जिन वस्तुओं तथा व्यक्तियों से हमें स्नेह होता है। उन वस्तुओं तथा व्यक्तियों के साथ हम निरन्तर रहना चाहते है। उनसे वियोग होने

पर हमें व्याकुलता का आभास होता है। और हम उस व्याकुलता को प्रकट भी करते है। यह व्याकुलता स्नेह के कारण ही होती है। इसी प्रकार जब हमें परमात्मा से स्नेह हो जाता है तब हम उसके बिना रहने की कल्पना भी नहीं कर सकते है। हमें उसके साथ रहने की आदत पड़ जाती है। हमारे मन में उस अव्यक्त परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव, प्रभाव आदि का स्मरण हुआ करता है। भगवान से अधिक स्नेह हो जाने पर यह स्मरण स्वतः ही तीव्र होता है और सांसारिक कारणों से स्मरण में बाधा आने पर हमें व्याकुलता का आभास होता है। जब उसके स्मरण में कुछ बाधा आवे और हमें स्मरण में बाधाओं के आने पर व्याकुलता का आभास हो तो हम भक्तियोग साधन का अनुशरण करते है। जागृत अवस्था में यह व्याकुलता रहती है उसे उस परमात्मा से स्नेह रहता है। व्याकुलता स्नेह का ही प्रतिरूप है। यदि वह सांसारिक पदार्थो के प्रति हो। तो यह साधन में बाधक है और परत्मा के प्रति हो तो वह साधन में सहायक है। स्नेह के अधिक बढ़ने पर व्याकुलता की स्वतः बढ़ोत्तरी हो जाती है। स्नेह बढ़ता है व्याकुलता बढ़ती है। व्याकुलता की चरम सीमा ही भक्तियोग की सिद्धि मानी जाती है।

प्रश्न 98. भक्ति योग साधन की विशेषतः क्या है ?

उत्तर : भक्तियोग साधन में परमात्मा के किसी भी स्वरूप के प्रति प्रेम, स्नेह, अनुराग का उपार्जन करना पड़ता है। परमात्मा चूंकि अव्यक्त है परन्तु उसके सम्बंध में व्यक्त की तरह से हमें आभास करना पड़ता है। जैसे मनुष्य अपने प्रिय व्यक्ति से उसके उपलब्ध न रहने पर भी मन से बाते करता रहता है। बातचीत की इस प्रक्रिया में मनुष्य स्वतः ही प्रश्नों का उत्तर उपार्जित कर लेता है। हमारा प्रिय क्या कहेगा तो हम क्या कहेंगे ? यह वह ऐसा कहेगा तो हम ऐसा कहेंगे इस प्रकार के अनेकों विचार मन में रहते है तथा स्वतः ही उत्पन्न हो जाते है। तो अपने स्नेही व्यक्ति के अव्यक्त रहने पर भी हमारा व्यवहार व्यक्त की तरह से रहता हैं मन बुद्धि इस कार्य में विशेष सहयोगी रहते है। इसी प्रकार हमे कोई विशिष्ट ज्ञान न हो तो भी परमात्मा के प्रति प्रेम को उपार्जित करके हम उसको सहजता से अनुभूति कर सकते है। यही भक्तियोग साधन की विशेषता है।

प्रश्न 99. भक्तियोग साधन का वर्णन क्या भगवद्गीता में भी हुआ है ?

उत्तर : गीता जी में स्थान स्थान पर भक्तियोग साधन का वर्णन हुआ है। अनेक प्रकार से श्री भगवान ने अपने प्रति प्रेम की विशिष्टता का विषद निरूपण किया है। बारहवें अध्याय में भक्तियोग का विशिष्ट निरूपण हुआ है तथा सम्पूर्ण गीता जी में भी अनेक प्रकरणों में श्री भगवान ने भक्तियोग से सम्बंधित विशेष प्रस्तुति दी है। कुछ भावों का अवलोकन कीजिए–

(एक) जो प्रेमी मनुष्य मेरा जिस प्रकार से भजन करते है। मैं उनको भी उसी प्रकार से भजता हूं। **(गीता 4/11)**

(दो) सभी प्रकार से जो श्रद्धावान पुरूष मुझमें मन लगाकर मुझको भजते है वे मेरे मतानुसार सर्वश्रेष्ठ योगी है। **(गीता 6/47)**

(तीन) सभी काल में मेरा स्मरण करों तथा मेरे में ही अपनी मन और बुद्धि को अर्पित कर दो ऐसा करने से तुम निःसंदेह ही मुझको प्राप्त होगे। **(गीता 8/8)**

(चार) जो अनन्य चित्त से प्रेमी भक्त मेरा नित्य निरन्तर स्मरण करते है मैं ऐसे नित्ययुक्त भक्तों को सुलभ हो जाता हूं। **(गीता)**

(पांच) जो भक्त अनन्य चित्त से मुझे उपासते है उन्हें मैं उनकी अप्राप्त वस्तुएं सहजता से उपलब्ध कराता हूं तथा प्राप्त वस्तुओं की रक्षा भी करता हूं। **(गीता)**

(छः) जो भक्त मुझमें प्राणों का अर्पण कर देते है। मुझमें चित्त लगाते है और आपस में मेरे गुण स्वरूप स्वभाव का वर्णन करते है। ऐसे प्रेमी भक्तों को मैं वह बुद्धि दे देता हूं जिससे वह मुझकों सहजता से प्राप्त कर लेते है। **(गीता 10/10)**

(सात) मुझमें ही मन लगा दो मुझमें ही बुद्धि को प्रविष्टि करा दो ऐसा मन और बुद्धि के अर्पण करने से तुम मुझकों ही संशय रहित प्राप्त होगे। **(गीता 12/8)**

इस प्रकार अनेक स्थलों पर अनेक प्रकरणों श्री भगवान ने अनेक प्रकार से भक्त्योग साधन का विषद उल्लेख प्रस्तुत किया है। जिसके अध्ययन पठन–पाठन आचरण और व्यवहार से मनुष्य भक्तियोग साधन में पूर्णतः प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न 100. परमात्मा को किन गुणों वाला भक्त प्रिय है ?

उत्तर : प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि वह परमात्मा का प्रिय रहे तथा परमात्मा हमें अपना प्रिय समझें। परमात्मा हमें अपना प्रिय कैसे समझेंगे ? यह तो विचारणीय प्रश्न है। श्री भगवान ने इसका उल्लेख श्रीगीता जी के 12वें अध्याय में किया है कि कौन से मनुष्य मुझे प्रिय है अर्थात् किन गुणों से युक्त भक्त मुझकों प्रिय लगते है। श्री भगवान द्वारा प्रस्तुत किये गए इस तथ्य का आप क्रमशः अवलोकन कीजिए और श्री भगवान के प्रिय बनिए–

(एक) जो मनुष्य समस्त प्राणियों में से किसी से भी द्वेष नहीं करता है वह मुझको प्रिय है। क्योंकि मैं भी किसी से द्वेष नहीं करता हूं।

(दो) जो मनुष्य मुझसे मित्रवत् व्यवहार रखता है अर्थात् सबका मित्र है वह मेरे को प्रिय है। क्योंकि मैं भी सभी से मित्रवत् व्यवहार रखता हूं।

(तीन) जो मनुष्य करूणा से भरा हुआ है तथा सब पर दया करने वाला है वह मेरे को अत्यंत प्रिय है। क्येांकि मैं भी समस्त प्राणियों पर दया करता हूं। सभी प्राणियों पर कृपा करता हूं। इसलिए मुझे लोग दया निधान कृपा निधान आदि शब्दों से विभूषित करते है।

(चार) जो मनुष्य समस्त प्रकार के अहंकार से निवृत्त हो जाता है अर्थात् अपने अस्तित्व के बोध को समाप्त कर देता है वह मनुष्य मुझे अत्यंत प्रिय है। क्योंकि मुझे भी कभी अपनी सत्ता का बोध नहीं रहता है।

(पांच) जो मनुष्य समस्त प्रकार की ममता और आसक्ति का परित्याग कर देता है तथा सभी मनुष्यों के प्रति एक समान भाव वाला है वह मनुष्य मेरे को अत्यंत प्रिय है।

(छः) जो मनुष्य क्षमावान है तथा अपने शत्रुओं और अहित चाहने वालों को भी क्षमादान दे देता है वह मनुष्य मेरे को अत्यंत प्रिय है। क्येांकि मैं भी किसी से शत्रुता का भाव नहीं रखता हूं तथा सभी को अनेक प्रकार के अवैधानिक कार्यो के प्रति क्षमा का भाव रखता हूं।

(सात) जो मनुष्य प्रतिकूलताओं में तथा अनुकूलताओं में सदैव संतुष्ट रहता है और यह मानता है कि प्रतिकूलता तथा अनुकूलता आने जाने वाली स्थितियां है ऐसा मानकर जो सुखी रहता है वह मेरे को बहुत प्रिय है। जो मनुष्य सभी भावों को मेरे में अर्पित कर देता है और साधक हो जाता है वह मनुष्य मेरे को बहुत प्रिय है।

(आठ) जिस मनुष्य ने परमात्मा के अस्तित्व का विनिश्चय कर लिया है तथा परमात्मा के प्रति निश्चय वाला है और परमात्मा की अनुभूति के मार्ग में जुटा हुआ है वह साधक मुझे बहुत प्रिय हैं।

(नौ) जिस साधक ने अपनी मन और बुद्धि को संसार से हटाकर मुझमें अर्पित कर दिया है और संसार के आश्रय का त्याग कर दिया है वह साधक मुझको अत्यंत प्रिय है। जिस मनुष्य ने स्वयं को जीत लिया है अर्थात् जिसकी मन और बुद्धि अच्छी प्रकार से नियंत्रित हो गयी है। वह भक्त मुझे बहुत प्रिय है।

(दस) जो मनुष्य दूसरों को परेशान नहीं करता है तथा दूसरें ही उसको परेशान नहीं करते है ऐसा भक्त मुझकों बहुत प्रिय है।

(ग्यारह) जिस मनुष्य ने स्वयं को जीत लिया है अर्थात् जिसकी मन और बुद्धि अच्छी प्रकार से नियंत्रित है और सांसारिक विषयों से पृथक हो गयी है वह भक्त मुझको अत्यंत प्रिय है।

(बारह) जो अनुकूलताओं के आने पर प्रसन्न नहीं होता है और प्रतिकूलताओं के आने पर कभी उद्विग्न अर्थात् दुखी नहीं होता है वह मनुष्य भी मुझे अत्यंत प्रिय है।

(तेरह) जो मनुष्य दूसरों के प्रति ईष्या, द्वेष नहीं करता है और सदा ही सबसे मित्रवत् व्यवहार रखता है वह मनुष्य भी मुझे बहुत प्रिय है।

(चौदह) जो मनुष्य लाभ हानि, जीवन मरण आदि आदि भयों से मुक्त है वह मनुष्य भी मुझे बहुत प्रिय है।

(पंद्रह) जो मनुष्य पूर्ण शान्त है जिसके अंतःकरण में समस्त प्रकार की चेष्टाओं का अभाव हो गया है वह मनुष्य भी मुझे बहुत प्रिय है।

(सोलह) जिसने संसार की समस्त अपेक्षाओं का त्याग कर दिया है अर्थात् वह किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता है वह मनुष्य भी मुझे बहुत प्रिय है।

(सत्रह) जिसका अंतःकरण पवित्र है तथा जो बाह्य और आन्तरिक शुद्धि से युक्त है वह मनुष्य भी मुझे बहुत प्रिय है।

(अठ्ठारह) जो मनुष्य परमात्मा की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील है उसकी प्रयत्नशीलता देखकर मुझे बहुत आनन्द होता है। इसलिए ऐसा साधक मनुष्य मुझकों प्रिय है। जो मनुष्य न तो शुभ कर्म करता है तथा साथ ही शुभ और अशुभ कर्मो का परित्यागी वह मनुष्य भी मुझे बहुत प्रिय है।

(उन्नीस) जो संसार की क्रियाकलापों के प्रति उदासीन है अर्थात् संसार में क्या हो रहा है इससे कोई सम्बंध नहीं रखता है। वह मनुष्य भी भगवान को प्रिय है।

(बीस) जो मनुष्य संसार की वस्तुओं, धन, पद, सम्पत्ति, ऐश्वर्य प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति हेतु नये नये कर्मो का आरम्भ करता है वह मनुष्य भी मुझको अत्यंत प्रिय है।

(इक्कीस) जिसका अन्तःकरण पवित्र है बाहर और अंदर से शौच के नियमों का पालन करता है वह मनुष्य भी मुझकों बहुत प्रिय है।

(बाइस) जो शत्रु और मित्र में एक समान भाव रखता है अर्थात् उसके लिए शत्रु और मित्र एक जैसे रहते है। ऐसा मनुष्य भी श्री भगवान को बहुत प्रिय है।

(तेइस) जो अपनी निन्दा करने वालों के प्रति और स्तुति करने वालों के प्रति एक समान भाव रखता है ऐसा साधक मुझकों बहुत प्रिय है जो मनुष्य शरीर का निर्वाह किसी प्रकार

होने के कार्य में ही व्यस्त रहता है और श्री भगवान का भजन पूजन करता है। ऐसा मनुष्य श्री भगवान को प्रिय है।

(चौबीस) जो मनुष्य अपनी बुद्धि से समस्त प्रकार के शारीरिक प्रपंचों को छोड़कर एक मात्र परमात्मा का भजन करता है वह श्री भगवान को अत्यंत प्रिय है।

प्रश्न 101. क्या उपरोक्त किसी एक गुण के आ जाने पर परमात्मा प्रसन्न हो जाता है ?

उत्तर : एक गुण के आ जाने पर तथा उसकी पूर्णतः प्राप्त होने पर दूसरे अन्य गुण मनुष्य में स्वतः ही आने लगते है। जैसे आप किसी से कोई अपेक्षा न करे तो अपेक्षा न करने से ईष्या और द्वेष रूपी अवगुण स्वतः ही समाप्त हो जाते है। क्योंकि अपेक्षा में किसी वस्तु के प्राप्त करने का भाव रहता है। वस्तु और स्थिति के प्राप्त न होने पर जो बाधक होते है उनमें हमें ईर्ष्या द्वेष आ जाती है। इस प्रकार अपेक्षा रहित होने पर राग द्वेष से मुक्त हो जाना सहज है। अपेक्षा रहित होने से सांसारिक कामनाओं से स्वतः ही निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार एक गुण की पराकाष्ठा ही अन्य गुणों के प्रार्दुभाव का कारण बनती है। एक गुण का विकास कर लेने में हम भगवान को प्रिय लगते है तथा वह अन्य गुणों के विकास हेतु सहायता करते है। वे किसी एक गुण को विशिष्टता से रखने वाला श्री भगवान को प्रिय है तथा एक गुण से ही अन्य गुण भी स्वतः आ जाते है। इस कारण हमें एक गुण के विकास से अन्य गुणों का विकास कर लेना चाहिए।

प्रश्न 102. भक्ति योग के प्रमुख ग्रंथ कौन से है ?

उत्तर : भक्तियोग के असंख्य ग्रंथ है। भगवान वेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवद् महापुराण को भक्तियोग का प्रमुख पैराणिक ग्रंथ माना जाता है। उसमें श्री भगवान की भक्ति का विस्तार से उल्लेख हुआ है। ब्रम्हश्री नारद द्वारा रचित नारद भक्ति सूत्र अर्थात् भक्ति दर्शन भी भक्तियोग का प्रमुख दार्शनिक ग्रंथ है। जिससे भक्ति के स्वरूप गुण, लक्षण, प्रभाव, का सूत्रवत वर्णन है। वर्तमान काल में श्री रामचरित मानस जो गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित है उसे भी भक्तियोग का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। उसमें श्रीरामचन्द्र के मर्यादा पूर्ण प्रेम का और उनकी लीलाओं का विस्तार से वर्णन हुआ है।

प्रश्न 103. भगवान वेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवद् महापुराण की क्या विशेषताएं है ?

उत्तर : श्रीमद् भागवद् महापुराणा बहुत विलक्षण ग्रंथ है क्योकि इसमें विशिष्ट विषयों को महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रतिपादित किया गया है सृष्टि कब और कैसे आरम्भ हुई ? सृष्टि की व्यवस्था कितने और कौन कौन मनु करते है। प्रकृति क्या है ? पंच महाभूतों की उत्पत्ति कैसे होती है ? भगवान कपिल ने अपनी माता द्वेवहुति को मुक्ति की प्राप्ति के लिए क्या क्या शिक्षाएं दी थी। अष्टांग योग साधन क्या है ? सूर्य ग्रहों नक्षत्रों की स्थिति आदि का विषद वर्णन श्रीमद्भागवद् महापुराण में किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उपदेशों की प्रस्तुति जैसे अनेक विशिष्ट विषय है। जिन्हें महर्षि वेद व्यास ने प्रतिपादित किया है। सम्पूर्ण ग्रंथ के अध्ययन से मनुष्य को विशिष्ट आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है।

प्रश्न 104. ब्रम्हर्षि नारद द्वारा दार्शनिक ग्रंथ नारद भक्ति सूत्र की क्या विशेषताएं है ?

उत्तर : ब्रम्ह ऋषि नारद ने भक्ति के इस दार्शनिक ग्रंथ में भक्ति के सम्बंध में अनेक विशिष्ट तथ्यों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा कि भक्त जो कुछ भी करता है वह अपने ईष्ट को समर्पित कर देता है तथा उसके स्मरण में बाधा आने पर वह व्याकुल हो जाता है। इस प्रकार समस्त कर्मो का अपने ईष्ट में समर्पण करना तथा उसकी रंच मात्र भी विस्मृति न करना ही भक्ति है। भक्त पांच विशिष्ट लक्षणों से युक्त रहता है। 1– वह संसार के प्रति अपेक्षाहीन हो जाता है। 2– प्रतिकूलताओं में शोक का आभास नहीं करता है। 3– राग द्वेष से मुक्त रहता है। 4– सांसारिक किसी भी वस्तु के आकर्षण में नहीं फंसता है तथा 5– विषय भोगों में उसकी स्वतः ही आसक्ति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार भक्ति के विशिष्ट तथ्यों के निरूपण के साथ साथ ब्रम्ह ऋषि नारद ने भक्ति के लक्षणों, भक्त की चेष्टा आदि को भी वर्णित किया है तथा भक्ति के 11 प्रकारों का वर्णन प्रस्तुत किया है। ब्रम्हऋषि नारद द्वारा प्रस्तुत किया गया नारद भक्ति सूत्र, भक्तियोग साधन का एक विशेष ग्रंथ है।

प्रश्न 105. गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित श्रीरामचरित मानस की क्या विशेषताएं है ?

उत्तर : मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के चरित्र तथा लीलाओं का वर्णन मूल रूप से उनके श्रमकालीन ऋषि बाल्मीकि ने रामायण नामक ग्रंथ में किया था। श्रीराम के द्वारा जब माता सीता का परित्याग किया गया तो उन्होंने महर्षि बाल्मीकि के आश्रम में शरण प्राप्त की। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। बाल्मीकि रामायण मूल रूप से संस्कृत भाषा में है। इसी

रामायण को आधार मानकर सम्वत् 1633 में गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानस की रचना की। यह काव्य रूप में भगवान श्रीराम की लीलाओं तथा चरित्रों की व्याख्या हेतु विशिष्ट ग्रंथ है। इस ग्रंथ को भारतीय जनमानस ने बहुत मान्यता तथा सम्मान प्राप्त है। इसमें सात काण्ड है। जिन्हें 1– बालकाण्ड 2– अयोध्या काण्ड 3– अरण्यकाण्ड 4– किंकिंधा काण्ड 5– सुन्दर काण्ड 6 लंका काण्ड 7– उत्तर काण्ड नाम के सात अध्याय है। जिन्में गोस्वामी जी ने बहुत रोचक शैली में श्री भगवान की लीलाओं का वर्णन किया है। इस ग्रंथ के उत्तर कांड में विशिष्ट अध्यात्मिक तत्वों का निरूपण हुआ है। जिनके अध्ययन से विशिष्ट अध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसी मान्यता है तथा इस ग्रंथ के अध्ययन से यह स्पष्ट भी हो जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानस में शास्त्रों, दार्शनिक ग्रंथों पुराणों आदि का सार सग्रंहित किया हैं। उसमें जो निरूपण हुआ है वह साधक के लिए विशेष लाभप्रद है। हमे इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न 106. भक्तियोग साधन को सरल साधन क्यों माना जाता है ?

उत्तर : परमात्मा के प्रति प्रेम का उर्पाजन करने के लिए उसके नाम का जप करना आरिम्भ और विशिष्ट साधन है। ऊ तत्सत् परमात्मा का विशिष्ट नाम है। इसी नाम के निरन्तर जप का प्रयास करना चाहिए। वैसे परमात्मा के अनन्त नाम है। किसी भी नाम का जप विशिष्ट साधन है। नाम के प्रकार की प्रधानता नहीं है। वरन् भाव की प्रधानता है। हम परमात्मा के नाम का जप किसी भी प्रकार से करते है तो भगवान उसे जान जाता है। कि हमें पुकारा जा रहा है। परमात्मा की हृदय में नित निरन्तर स्थिति होती है। इसलिए उसे पुकारने पर वह सुनता है और हमारी ओर आकृष्ट हो जाता है। इस प्रकार जागृत अवस्था में हमे उसके नाम का जप करने का प्रयास करना चाहिए।

उठते बैठते चलते फिरते लेटते प्रत्येक काल में हमें उसे पुकारना चाहिए। इस जप से सांसारिक कार्यो के कारण अनेक अवरोध उत्पन्न हो जाते है जिनसे नाम जप रूकता है। अथवा निरोधित होता है। परन्तु जब भी पुनः उसकी विस्मृति का ज्ञान हो तो हमें पुनः नामजप आरम्भ करना चाहिए। इस प्रकार निरन्तर नाम जप करने से परमात्मा के प्रति प्रेम का उर्पाजन हो जाता है, हो जाना स्वाभाविक भी है। नाम जप का समय जब बढ़ता है तब उस परमात्मा के प्रति प्रेम भी स्वतः ही बढ़ता है। परमात्मा हमारे हृदय में बैठकर हमारे द्वारा की गई पुकार को सुन करता है। इस प्रकार नाम जप से प्रेम का उदय हो जाता है। यह भाव परमात्मा ही उत्पन्न कर देता है तथा साधक को संसार के प्रेम से हटाकर अपने समीप लाता है। परमात्मा के प्रति प्रेम में संसार का प्रेम ही सबसे बड़ी बाधा है। यह जो

सांसारिक आकर्षण है यही परमात्मा के प्रेम में प्रमुख बाधा बनकर उपस्थित हो जाता है। जब संसार का आकर्षण समाप्त हो जाता है तो परमात्मा के प्रति आकर्षण बढ़ता है। यह नियम है जिसे हम प्रयोग कर सकते है। इस नाम जप से प्रेम का उर्पाजन होता है और साधक भक्ति योग में डूब जाता है।

प्रश्न 107. परमात्मा की अनुभूति का ध्यान योग साधन क्या है ?

उत्तर : मनुष्य के शरीर में मन तथा बुद्धि, विचारण तथा विनिश्चय के प्रमुख दो तत्व है। इनसे अनेक सांसारिक विषयों का विचारण तथा विनिश्चय होता रहता है। यह दोनों ही तत्व जड़ है क्योंकि यह दोनों अपरा प्रकृति के अंश है। इस तथ्य को पूर्ण में भी वर्णित किया जा चुका है। परन्तु इन दोनों तत्वों की क्रियाशीलता चेतन तत्व आत्मा के कारण ही है। आत्मा अर्थात् पराशक्ति ही इन दोनों तत्वों को सक्रिय रखती है। परमात्मा चेतन तत्व है, चेतन तत्व का ग्रहण जड़ तत्व से नहीं किया जा सकता है। यह नियम है। परन्तु मनुष्य के पास मन तथा बुद्धि ही ऐसे दो तत्व है जिनसे परमात्मा के सम्बंध में विचारण और विनिश्चय किया जा सकता है। जैसे मन किसी विषय का चिंतन विशेष करता है तो वह चित्त कहलाता है। ध्यान योग में चित्त की जो वृत्तियां है अर्थात् चित्त का जो कार्य है उन्हें ही नियंत्रित करना पड़ता है।

प्रातः से रात्रि तक मन सांसारिक विषयों का विचारण करता रहता है तथा बुद्धि भी उसका अनुशरण करती है। ध्यान में अर्थात् मेडीटेशन में हम संसार के विषयों का जो विचारण होता है उस क्रिया को रोकने का प्रयास करते है और ईष्ट में ध्यान स्थापित करने का प्रयत्न करते है। संसार के विषयों का विचारण समाप्त हो तथा परमात्मा का ध्यान रहे यही ध्यान योग की विधि हैं। ध्यान योग की परिपक्वता में सांसारिक विचारण समाप्त हो जाता है। परमात्मा ही अवशेष रहता है। जैसे वायु की हलचल से रहित स्थान में दीपक की ज्योति की जो स्थिति रहती है वैसे ही ध्यान की परिपक्वता को प्राप्त हुए ध्यानयोगी के चित्त की स्थिति रहती है।

प्रश्न 108. ध्यान योग के परायण हुए पुरूष के क्या लक्षण है ?

उत्तर : ध्यानयोगी में कुछ विशिष्ट लक्षणों का स्वतः ही प्रार्दुभाव हो जाता है। साधक को उन लक्षणों पर दृष्टि रखनी चाहिए। ध्यानयोगी के विशुद्ध लक्षणों का अवलोकन कीजिए–

(एक) विशुद्ध बुद्धि से युक्त होना : साधारणतः मनुष्य की बुद्धि सांसारिक प्रपंचों में और चेष्टाओं में फंसी रहती है। इसलिए इस प्रकार की बुद्धि को अशुद्ध बुद्धि मानना चाहिए।

जब साधक ध्यान का आश्रय ले लेता है तब उसकी बुद्धि सांसारिक प्रपंचों से निकलती है और परमात्मा की सत्ता के साथ संलग्न हो जाती है। इस प्रकार की बुद्धि शुद्ध होती जाती है। बुद्धि जड़ तत्व है। परन्तु वह चेतन तत्व के विचारण से शुद्ध हो जाती है। सांसारिक विषयों का विनिश्चय का अन्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान योगी की बुद्धि विशुद्ध हो जाती है।

(दो) वैराग्य का आश्रय ग्रहण करना : ध्यान योग के परायण हो जाने पर साधक सांसारिक भोगों के प्रति घृणा का भाव रखता है। सांसारिक भोगों के प्रति घृणा का स्वतः उर्पाजन कर लेता है। सांसारिक विषयों में अनियतता है तथा उनका परिणाम दुःख है। इस तथ्य की वास्तविकता को समझ लेने के उपरान्त ध्यान योग के परायण हुआ पुरूष सांसारिक भोगों के प्रति घृणा रखता है। जैसे हम यह जान जावे कि यह वस्तु, पदार्थ, स्थिति, संयोग, घटना आदि हमारे लिए सुखकर नहीं है तो हम उससे स्वतः ही घृणा करने लगते है। उसी प्रकार की स्थिति ध्यानयोगी की होती है। वह जब ध्यान योग के परायण हो जाता है तो उसमें संसार के प्रति और सांसारिक विषयों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है। इसी को वैराग्य का प्रार्दुभाव होना कहते है।

(तीन) एकान्त स्थान का सेवन करना : ध्यान योग की क्रिया एकान्त स्थान में अधिक फलीभूत होती है। कोलाहलपूर्ण स्थान में जहां पर मनुष्यों की भीड़भाड़ हो ऐसा स्थान ध्यान के लिए उपर्युक्त नहीं होता है। इस कारण सब जब साधक ध्यान का आश्रय ले लेता है तब वह ऐसे स्थानों का निषेध करता है जहां पर कोलाहल होता हो अथवा मनुष्यों की भरमार हो। वह एकान्त स्थान में रहने का इच्छुक होता है। यह इच्छा उसमें स्वतः ही उत्पन्न होती है। उपार्जित नहीं करनी पड़ती है। इस प्रकार ध्यान योग के परायण हुआ साधक स्वतः ही एकान्त सेवन करने की इच्छा करता है तथा कोलाहलपूर्ण स्थान से दूर रहता है।

(चार) परिमित आहार ग्रहण करना : आहार का मनुष्य के शरीर पर, शरीर की क्रियाविधि पर, आन्तरिक चेष्टाओं पर, मन बुद्धि, अहंकार, स्वस्थतः पर बहुत प्रभाव रहता है। हम जब सात्विक भोजन करते है तब शरीर में सात्विक गुणों का स्वतः ही विकास हो जाता है। इसी प्रकार हम जब राजसी और तामसी भोजन करते है तो रज और तम गुणों का विकास हो जाता है। इस प्रकार आहार शरीर में स्थित प्रकृतिजन्य गुणों को भी प्रभावित करता है। ध्यान योग के परायण हुआ साधक एक तो पूर्ण सात्विक भोजन ग्रहण करता है और दूसरे परमित मात्रा में भोजन ग्रहण करता है। भोजन की असंतुलित और असंयमित मात्रा शरीर में सुस्तीपन का स्वतः उद्भव कर देती है। इस कारण ध्यान के क्रियान्वयन में परमित

भोजन की आवश्यकता रहती है। ध्यान योग के परायण हुआ साधक परमित भोजन ही करता है।

(पांच) धैर्य सहित स्वयं को नियंत्रित करना : मनुष्य के शरीर की समस्त क्रियाविधि त्रिगुणों पर आधारित है। उसकी चेष्टाएं, गतिविधियां, गुणों के कारण ही होती है। हमारा मन तथा बुद्धि भी त्रिगुणों से प्रभावित रहकर कार्य करता रहता है। ध्यान योग साधन में ध्यानयोगी शरीर की, मन की क्रियाओं को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। वैसे शरीर, इन्द्रियों की क्रियाएं मन तथा बुद्धि के आश्रय से होती है। इस कारण ध्यानयोगी भी मन तथा बुद्धि की क्रियाओं को धैर्यतापूर्वक संतुलित करता है। चूंकि मन तथा बुद्धि बहुत ही प्रमथनशील तथा असंयमित है। इस कारण अपेक्षित सफलता न प्राप्त होने पर भी ध्यान योग के परायण हुआ साधक प्रयत्नशील रहता है। धैर्य नहीं खोता है। ध्यान योगी का धैर्य न समाप्त होना ही ध्यान योग के परायण होने का लक्षण है।

(छः) शरीर तथा वाणी और मन को नियंत्रित करना : ध्यान योग साधन में पहले मन को नियंत्रित किया जाता है तत्पश्चात् वाणी संयमित होती जाती है और शरीर भी इन्द्रियों सहित संयमित हो जाता है। ध्यान योग साधन में विशेषकर मन को संयमित करते है क्योंकि मन चंचल, प्रमथनशील, हठी, तथा सरलता से वश में होने वाला नहीं है। इसी कारण ध्यान में इस मन को नियंत्रित करना पडता है। मन जितना नियंत्रित होता जाता है उतना ही ध्यान योग की सिद्धि भी होती जाती है। ध्यान योग के परायण हुआ पुरूष ध्यान के द्वारा ही मन को नियंत्रित करता है। तथा मन जब भटकता है तो उसे बुद्धि के सहयोग से वापस लाकर पुनः अभीष्ट में लगाता है। इसप्रकार मन को नियंत्रित करना ही ध्यान की परायणता है। अधिक बोलना भी तथा शरीर से अनावश्यक चेष्टाएं करना भी ध्यान योग के प्रतिकूल है। इस कारण वाणी और मन को भी संयमित करना पड़ता है।

(सात) शब्दादि विषयों का त्याग करना : मानव शरीर की पांच ज्ञानेन्द्रियों अर्थात् कर्ण, नेत्र, जिह्वा,त्वचा, नासिका का वर्णन पूर्व में भी हो चुका है। कर्ण का विषय तथा गुण शब्द है नेत्रों का गुण रूप है। जिह्वा का गुण रस है। त्वचा का गुण स्पर्श है। नासिका का गुण गंध है। इसे ज्ञानेन्द्रियों के विषय भी कह सकते है। इस प्रकार शब्दादिक विषयों का उल्लेख होता है। ध्यान योग के परायण हुआ मनुष्य समस्त इन्द्रियों के गुणों को त्यागता है। सुन्दर, मधुर ध्वनि के प्रति आकर्षण को त्यागता है। सुन्दर मनोहारी विषयी दृश्यों को देखने की क्रिया को भी त्यागता है। कोमल स्पर्श की आकांक्षा का भी त्याग कर देता है। संयोग होने पर उसमें राग नहीं करता है। सुगन्ध के विविध प्रकारों में मोहित नहीं होता है। इस प्रकार शब्दादिक विषयों का वह त्याग कर देता है। ध्यान योग के परायण हो जाने

पर ध्यानयोगी साधक में शब्दादिक विषयों को त्यागने का भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है। ध्यान योग की पराकाष्ठा में शब्दादिक विषयों का स्वतः ही त्याग हो जाता है। इसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता।

(आठ) राग तथा द्वेष का त्याग करना : संसार के विषय भोग अच्छे लगते है। सुखद प्रतीत होते है। इसी का नाम राग है। तथा प्रतिकूलताओं में मनुष्य में अनेक प्रकार के विरोधी भाव प्रकट होते है। इसी को द्वेष कहते है। हमें जब राग का संयोग प्राप्त नहीं होता है तो द्वेष की उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण राग द्वेष साथ रहते है। हमें कोई वस्तु प्रिय लगे और उसकी प्राप्ति में अनेक बाधाएं आ जाए तो जो जो बाधा के कारण होंगे हम उन उन के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न कर लेंगे। यह स्वाभाविक रूप से होता है। राग के न मिलने पर द्वेषभाव स्वतः ही उत्पन्न होता है। ध्यान योग के परायण हुआ साधक राग का अर्थात् संसार में सुखद लगने का त्याग करता है उससे द्वेष का स्वतः ही समापन हो जाता है। ध्यान योग की परायणता में राग और द्वेष का त्याग होता है। परन्तु पराकाष्ठा में राग द्वेष पूरी तरह से निवृत्त हो जाता है। ध्यान योग के परायण हुए पुरूष में उपर्युक्त लक्षण स्वतः ही प्रकट हो जाते है।

प्रश्न 109. ध्यान योग की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए पुरूष के क्या लक्षण है ?

उत्तर : ध्यान योग की परकाष्ठा में अर्थात् सिद्ध होने पर ध्यान योगी में कुछ विशेष लक्षण प्रकट हो जाते है उन लक्षणों को देखकर ध्यानयोगी की परख होती है तथा उसे देखकर हम परकाष्ठा का परीक्षण कर सकते है। ध्यान योग की पराकाष्ठा पर पहुंचे ध्यान योगी साधक में स्वतः ही निम्न गुणों का प्रार्दुभाव हो जाता है।

(एक) अहंकार का समापन हो जाना : ध्यान योग की पूर्णतः में अहंकार से निवृत्ति हो जाती है। मनुष्य में जब तक अपने अस्तित्व का मिथ्याभास रहता है तब तक अहंकार रहता है जब ध्यान की पूर्णतः से उसकी स्वस्थ रूप में स्थिति हो जाती है तो उसकी अहंकार से निवृत्ति हो जाती है। सस्वरूप में स्थिति ही अहंकार से निवृत्ति का लक्षण है। ऐसे में मनुष्य सुख और दुःख से भी निवृत्त हो जाता है। ध्यान योग हमें हमारे वास्तविक स्वरूप का आभास कराता है। इस प्रकार ध्यान योग की पूर्णतः से अहंकार की निवृत्ति मानी जाती है। ध्यानयोगी में सुख और दुःख का जो आभास है वह पूरी तरह से समाप्त हो जाता है। यदि किसी ध्यानयोगी में सुख ओर दुःख का लक्षण प्रकट हो तो उसे ध्यान योग की सिद्धि नहीं हो पायी है। ऐसा मानना चाहिए।

(दो) बल का समापन हो जाना : अहंकार के कारण ही मनुष्य को अपने बल का आभास होता रहता है। विभिन्न प्रकार के अहंकार ही विभिन्न प्रकार के बलों को प्रदर्शित करते है। सात्विक गुण के फलस्वरूप सात्विक अहंकार रहता है जिससे मनुष्य पूजा पाठ, अनेक प्रकार के आध्यात्कि ज्ञान योग साधना से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के बल का आभास करता है और वह अपने को बलिष्ठ समझता है। यह अहंकार ही बल के रूप में प्रकट रहता है। इसी प्रकार राजसी गुण के कारण राजसी अहंकार प्रकट हो जाता है। जो राजसी बल का कारण होता है। हमें धन सम्पदा पद ऐश्वर्य आदि के कारण जो बल प्रतीत होता है वह राजसी बल है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के अवैधानिक कर्मो, हिंसा आदि कर्मो हेतु बल का आभास रहता है। यह तामसी अहंकार का कार्यरूप है। और इसी के कारण होता है। ध्यान योग की पूर्णतः में समस्त प्रकार के अहंकार से निवृत्ति हो जाती है और अपने को शक्तिवान समझने का मिथ्या विचार समाप्त हो जाता है। जब हमें सांसारिक बल का आभास रहता है तो हमें ध्यान योग की सिद्धि नहीं माननी चाहिए और ऐसा समझना चाहिए कि हम अभी ध्यान योगी की पराकाष्ठा तक नहीं पहुंचे है।

(तीन) दर्प का समापन हो जाना : ध्यान योग की परायणता में सात्विक दर्प कुछ अंश तक रहता है। जो दर्प शेष रहता है वह ध्यान योग की पराकाष्ठा पर समाप्त होता है। हमारे पास जो धन सम्पत्ति पद ऐश्वर्य आदि है उसका आभास हमें रहता है। इसी प्रकार जो ज्ञान है उसका आभास भी रहता है जो ज्ञान है वह दर्प के रूप में प्रकट होता है कि हम वेदों के ज्ञाता है, शास्त्रों के ज्ञाता है, यज्ञादिक कर्मो के ज्ञाता है, अच्छे कथावाचक है। ऐसा भाव रहता है और वह समय पर प्रकट हो जाता है। शास्त्रादि की प्रबल इच्छा रहना इसका लक्षण है। हम बहुत ज्ञानी है, तपस्वी है, योगी है, ऐसा भाव जब तक रहता है तब तक ध्यान योग की पूर्णतः नहीं रहती। जब ध्यान की पराकाष्ठा हो जाती है तथा सिद्धि हो जाती है तो साधक पूर्ण हो जाने के कारण तपस्वी, ज्ञानी, योगी होने के भाव से पृथक हो जाता है। वह जल से भरे घड़े के समापन पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार दर्प का समापन होना ही ध्यानयोग की पूर्णतः है।

(चार) कामनाओं का पूर्ण समापन हो जाना : ध्यान योग की पराकाष्ठा में समस्त प्रकार की लौकिक और पारलौकिक कामनाएं स्वतः ही समाप्त हो जाती है। पूर्ण साधक संसार की किसी वस्तु पदार्थ, व्यक्ति, स्थिति, की ओर आकर्षित नहीं होता है तथा समस्त प्रकार के विषयों से निवृत्त हो जाता है। जब तक सांसारिक विषयों को प्राप्त करने की कामना रहती है। तब तक ध्यान योग की पूर्णतः की स्थिति नहीं प्राप्त होती है। ध्यान योग की परायणतः में पारलौकिक कामनाएं जैसे स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति तथा सिद्धियों की प्राप्ति की

कामनाएं रहती है परन्तु पराकाष्ठा में परालौकिक कामनाएं भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार समस्त प्रकार की लौकिक पारलौकिक कामनाओं का समापन ही ध्यान योग की पूर्णतः का लक्षण है।

(पांच) परिग्रह का पूर्ण समापन हो जाना : संसार की जो वस्तुएं है उनको संकलित करना परिग्रह कहलाता है। हम सभी संसार की वस्तुएं अपने सुख के लिए एकत्रित करते है। हमें उन वस्तुओं में सुख का आभास होता है। यही वस्तुओं के एकत्र करने का कारण ध्यान योग की पराकाष्ठा तक पहुंचा साधक परिग्रह अर्थात् सांसारिक वस्तुओं को एकत्र करने के भाव से मुक्त हो जाता है। वह अपने जीवन यापन के लिए अनिवार्य वस्तुएं ही रखता है तथा अनावश्यक वस्तुओं का त्याग कर देता है। इस प्रकार ध्यान योग की पराकाष्ठा में परिग्रह की स्थिति समाप्त हो जाती है।

(छः) ममता रहित तथा पूर्ण शान्त हो जाना : सांसारिक व्यक्तियों तथा वस्तुओं से हम सभी स्नेह करते है तथा उनसे हमें सुख का आभास होता है। यह सुख का भाव हमें उनसे निरन्तर उनसे सम्पर्क रखने को बाध्य करता है। यही ममता है। ममता में स्नेह तथा सुखाभास का प्रमुख कारण है। हमें किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से सुख का आभास न हो तो हम उससे स्नेह नहीं कर सकते है और उससे सम्पर्क भी नहीं रखते है। जबकि समस्त वस्तुएं तथा व्यक्ति नाशवान स्वभाव की है। इस कारण ममता का कोई कारण नहीं है। ध्यान योग का साधक वस्तु तथा व्यक्तियों के प्रति ममता से रहित हो जाता है। इसी प्रकार वह पूर्ण शान्त हो जाता है। पूर्ण शान्त होने का अर्थ है कि उसमें चंचलता का भाव रहता है और उसमें आन्तरिक प्रसन्नता और शान्ति रहती है।

(सात) क्रोध का पूर्ण समापन हो जाना : मनुष्य में सांसारिक वस्तुओं और स्थितियों को प्राप्त करने की कामनाएं रहती है। सांसारिक वस्तुओं और स्थितियों को प्राप्त करने की जो कामनाएं रहती है उनको प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्नशील भी रहता है जब इस प्रयत्नशीलता में किसी प्रकार की कोई बाधा अथवा अवरोध आ जाता है तो भी मनुष्य में क्रोध उत्पन्न होता है। अथवा बाधा प्रतीत होती है तो मनुष्य में क्रोध का उर्पाजन होता है। ध्यान योग की सिद्धि के उपरान्त मनुष्य में क्रोध का अभाव हो जाता है। यदि किसी मनुष्य में क्रोध का भाव प्रतीत हो तो उसे ध्यान योग का सिद्ध मनुष्य नहीं मानना चाहिए।

ध्यान की पराकाष्ठा योग की सिद्धि की स्थिति है तथा यह समाधिक की अवस्था कही जाती है। इस कारण ध्यान योगी परमात्मा की नित्य अनुभूति करता है तथा स्वस्वरूप में स्थित रहता है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर वह सुख और दुःख के आभास से परे हो जाता है। ऐसा ध्यान योगी मनुष्य भारी से भारी दुख से भी विचलित नहीं किया जा सकता

है। वह संसार की क्रियाओं को सहज रूप से देखता है तथा सदैव प्रसन्नचित रहकर समस्त प्रकार के हलचल से मुक्त रहकर पूर्ण शान्त रहता है।

प्रश्न 110. समाधि क्या है ? इसकी क्या क्या स्थितियां है ?

उत्तर : महर्षि पतंजलि ने समाधियों के विषय में अपने ग्रंथ योग दर्शन में विषद वर्णन किया है। इसमे सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि, सबीज समाधि तथा निरबीज समाधि के बारे में वर्णन है। यह अवस्थाएं क्रमिक अवस्थाएं कही जाती है। परमात्मा हमारे ध्यानरूपी क्रिया का उद्देश्य है। इस कारण उसे ध्येय कहा जाता है, जो ध्यानरूपी क्रिया का सम्पादन करता है उसे ध्याता कहा जाता है। ध्याता ही को अपने अस्तित्व का बोध न रहे अर्थात् ध्यानरूपी क्रिया में ध्यान के साधन में अपने स्थूल शरीर का आभास नहीं रहता है तथा चित्त ध्येय पर रहता है। ध्येय से चलायमान नहीं होता है। ज्योति पर आंतरिक दृष्टि टिक जाता है। ऐसे में ध्यान का विस्मरण हो जाता है और ध्याता का ज्ञान रहता है। यह स्थिति सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। ध्येय का ज्ञान रहे उसी का बोध रहे यह स्थिति निरन्तर रहने पर चित्त शान्त हो जाता है और चंचलता का पूर्ण अभाव हो जाता है और वह पूर्ण शान्त हो जाता है तो यह असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि होने के पश्चात् जब अणमाधि सिद्धियां प्रकट हो जावे तो यह सबीज समाधि कही जाती है। इसमें सिद्धियों का आकर्षण रहता है। इस कारण सांसारिक विषयों का भाव रह सकता है। परन्तु निरबीज समाधि में यह भाव पूर्ण रूपेण समाप्त हो जाता है और सिद्धियों की प्राप्ति के प्रति रूचि नहीं रहती है। सिद्धियों की उत्कृष्टता का आभास समाप्त हो जाता है। सिद्धियों के प्रकट होने पर समाधिष्ट पुरूष उनकी अवहेलना करता है। यह समाधि की पृथक–पृथक स्थितियां है तथा पूरी तरह प्रयोगात्म विषय है। साधक को इन स्थितियों का आभास स्वयं होता है।

प्रश्न 111. वर्तमान में ध्यान की बहुत कक्षाएं चल रही है ? उनसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर : ध्यान अर्थात् मेडिटेशन बहुत ही लाभकारी क्रिया है। क्योंकि इसमें चंचल और प्रमथनशील मन को नियंत्रित किया जाता है। चंचल मन नित्य निरन्तर क्रियाशील रहता है तथा सांसारिक विषयों में घूमा करता है। उसकी चंचलता तथा प्रमथनशीलता के कारण हमारे शरीर पर बहुत कुप्रभाव पड़ता है। शरीर की समस्त क्रियाएं इससे प्रभावित हो जाती है। जब हम ध्यान करते है तो शरीर भी शान्त हो जाता है। तथा मन के साथ उसकी क्रियाशीलता पर विराम लगता है। इस कारण ध्यान की जो कक्षाएं लगती है उससे शरीर

मन शान्त होते है और अनेक प्रकार के लोग जैसे रक्त चाप आदि भी संयमित हो जाते है। इस कारण हम सभी को ध्यान का सेवन अवश्य करना चाहिए। यह कर्तव्य कर्म है। जिसे सांसारिक भोगों के प्रति अरूचि भी उत्पन्न हो जाती है।

प्रश्न 112. ध्यान कितनी देर करना चाहिए ?

उत्तर : ध्यान का सेवन जितना दीर्घकाल तक हो सके उतना करना चाहिए। ब्रम्ह मुर्हूत में अर्थात् प्रातः चार बजे उठकर शौचआदि कर्मो से निवृत्त होकर ध्यान के लिए बैठना अधिक फलदायी होता है। स्थिर और सामान्य आसन पर ऊनी वस्त्र तथा स्वच्छ वस्त्र बिछाकर ध्यान के लिए बैठना चाहिए। मन को सांसारिक चिंतन से निकाल कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। जितने अधिक समय तक बिना अकुताए हुए ध्यान करना चाहिए। इस ध्यान की क्रिया में समय का कोई प्रतिबंध नहीं है। जितना अधिक से अधिक हो हमें उतना ध्यान अवश्य करना चाहिए तथा धैर्यपूर्वक मन की चंचलता को विराम देने का प्रयास करना चाहिए। ध्यान का प्रमुख उद्देश्य संसार के चिंतन का त्याग करके परमात्मा का चिंतन करना है। इस कारण ध्यान की समय सीमा का निर्धारण संभव नहीं है। ध्यान के सेवन से शरीर में एक प्रकार की शक्ति और विशेष प्रकार की ऊर्जा प्राप्त होती है। जिससे स्फूर्ति रहती है। घंटे दो घंटे का ध्यान हमें सम्पूर्ण दिन के कार्य के लिए ऊर्जा दे देता है। हमारा मस्तिष्क बहुत सक्रिय रहता है। इस कारण हमें अधिकाधिक मात्रा में ध्यान के समय का निर्धारण किये बिना ध्यान करना चाहिए। ध्यान में संलग्न होने पर साधक को स्वतः ही आनन्द का आभास होता है और ध्यान का समय बढ़ता है तथा उससे निवृत्त होने की इच्छा नहीं होती है।

प्रश्न 112. घंटे दो घंटे के ध्यान से क्या परमात्मा की अनुभूति हो सकती है ?

उत्तर : घंटे दो घंटे के ध्यान में परमात्मा की अनुभूति नहीं होती है। घंटे दो घंटे के ध्यान से शरीर को मस्तिष्क को स्वस्थ रखा जा सकता है। इससे परमात्मा की अनुभूति होना संभव नहीं है। परमात्मा की अनुभूति के लिए नित्य निरन्तर ध्यान का सेवन करना पड़ता है। नित्य का अर्थ होता है परमात्मा के ध्यान में अनित्यता न रहे तथा निरन्तर का अर्थ है कि परमात्मा के ध्यान में अंतर न रहे। नित्य निरन्तर के अर्थ को समझ कर उसे कार्यान्वित करने से परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। घंटो दो घंटे के ध्यान के पश्चात् मनुष्य शेष समय संसार तथा सांसारिक क्रियाकलापों में बिताता है इस कारण उसका चित्त संसार का चिंतन करने लगता है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमें समझना चाहिए। संसार के चिंतन से परमात्मा की अनुभूति नहीं होती है। संसार की अनुभूति अवश्य होती है।

प्रश्न 113. नित्य निरन्तर चिंतन का क्या अर्थ है ? तथा उसे कैसे कार्यान्वित किया जा सकता है ?

उत्तर : जागृत अवस्था में अर्थात् सोकर जागने के पश्चात् तथा रात्रि में सोने के पूर्व जो समय होता है उसे जागृत अवस्था कहते है। इस जागृत अवस्था में परमात्मा के नाम का जप तथा उसके गुण स्वरूप कर्म प्रभाव, स्वभाव आदि के बारे में चिंतन करना चाहिए। नाम जप को निरन्तर करने का प्रयास करें तथा साथ ही परमात्मा के गुण स्वरूप, कर्म प्रभाव स्वभाव के बारे में चिंतन करने के लिए जहां जहां दृष्टि जाए वहां वहां उसके स्वरूप का दर्शन करें। चित्त के सांसारिक विषयों की ओर जाने पर उन्हें बुद्धि के विनिश्चय के द्वारा तत्काल हटा दें। संसार को छोड़े, परमात्मा को पकड़े।

साधक को स्वतः ही यह ज्ञान रहता है हम कितने समय संसार को पकड़े रहे तथा कितने समय परमात्मा के संसर्ग में रहें। जब संसार का संसर्ग समाप्त हो जाएगा तो परमात्मा का ही संसर्ग अवश्य रहेगा। इस प्रकार के चिंतन में नित्यता और निरन्तरता आ जाती है और साधक को परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। साधक को इस तथ्य का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि जब तक क्षण मात्र भी संसार का चिंतन होगा तब तक परमात्मा का नित्य चिंतन नहीं हो सकता है और ऐसी स्थिति में हमें परमात्मा की अनुभूति नहीं हो सकती है। यह तथ्य प्रमाणित है, सत्य है। इसलिए परमात्मा के चितन में अनित्यता तथा अंतर को समाप्त करना चाहिए। इस कर्म के लिए सतत प्रयास की आवश्यकता है। जिस प्रकार संसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु प्रयत्न होता है उसी प्रकार परमात्मा की जब तक अनुभूति न हो तब तक साधक को संसार से मन हटाकर परमात्मा में मन लगाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार के प्रयास में सतत चेष्टा ही कारण है।

प्रश्न 114. ध्यान योग का दार्शनिक ग्रंथ क्या है ?

उत्तर : ध्यान योग का दार्शनिक ग्रंथ योगदर्शन है। जिसे महर्षि पंतजलि ने लिखा है। महर्षि पतंजलि ने संस्कृत व्याकरण के महत्वपूर्ण ग्रंथ महाभाष्य तथा चिकित्सा विज्ञान के महत्वपूर्ण ग्रंथ चरक संहिता की भी रचना की थी। वह अपने समय के बहुत प्रकाट्य विद्वान थे। उक्त ग्रंथों की रचना के कारण ऐसा स्पष्ट होता है कि वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी संत थे। योगदर्शन योग पर उनका बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिस पर बहुत से मनीषियों, विद्वानों ने अपने अपने भाष्य लिखे है। योगदर्शन पर व्यास नाम के महानुभाव ने न्यास भाष्य की रचना की है। विज्ञान भिक्षु ने व्यास कृत भाष्य पर वार्तिक नामक टीका का प्रणयन किया है। दसवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्रा ने तत्व वैशारदी टीका की रचना की।

महाराजा भोज ने योगदर्शन पर वृत्ति नामक ग्रंथ लिखा है। इसके अतिरिक्त रामानन्द कृत, मणिप्रभा तथा सदा शिवेन्द्र द्वारा योग सुधाकर की रचना भी की गई है। स्वामी ओमानन्द द्वारा पातंजलि योग प्रदीप भी योगदर्शन की विशिष्ट व्याख्या है। इस प्रकार ध्यान योग के इस विशिष्ट दार्शनिक ग्रंथ पर बहुत सी टीकाएं उपलब्ध है जो इस दार्शनिक ग्रंथ के महत्व का प्रतिपादन करती है।

प्रश्न 115. योगदर्शन के विषय का प्रमुख आधार क्या है ?

उत्तर : योगदर्शन ध्यान का अति विशिष्ट दार्शनिक ग्रंथ हैं जिसमें महर्षि पतंजलि ने ध्यान के विशिष्ट तथ्यों का विवेचन किया है। यह ग्रंथ चार पादों अर्थात् चार अध्यायों में विभक्त है जिन्हें 1– समाधि पाद 2– साधन पाद 3– विभूति पाद और 4– कैवल्य पाद कहा जाता है। समाधि पाद में 51 सूत्र है। साधन पाद में 55 सूत्र है। विभूति पाद में 55 सूत्र है तथा कैवल्य पाद में 34 सूत्र है। प्रसंगवश इस पुस्तक के दो तथ्यों पर हम दृष्टि डालना चाहेंगे। एक तो योग साधना में विघ्न क्या है तथा दूसरें योग की सिद्धि अर्थात् समाधि की अवस्था तक कैसे पहुंच पाना संभव हो सकता है। पहले विघ्न पर चर्चा होगी। उसके पश्चात् समाधि पर चर्चा की जाएगी।

(क) अन्तराय विघ्न : योग साधना में महर्षि पतंजलि ने नौ विघ्न अन्तराय विघ्न के रूप में माने है जिनका वर्णन उन्होनें अपनी पुस्तक में किया है यह विघ्न निम्न प्रकार है।

(एक) व्याधि : शरीर में यदि कोई रोग है तो रोग अर्थात् व्याधि के कारण योग साधना के सम्पादन में समस्याएं आती है। ठीक से योग साधना का क्रियान्वयन नहीं हो पाता। रोग के दो कारण माने जाते है। एक तो कर्मफल कहा जाता है दूसरा आपथ्य कहा जाता है। इसी कारण योग साधक को साधना काल में युक्त आहार ग्रहण करने तथा युक्त विहार और युक्त चेष्टा का परामर्श दिया जाता है। युक्त आहार से अपथ्य की समस्या का हल हो जाता है और रोग ठीक हो जाते है। युक्त विहार और युक्त चेष्टा से दुष्कर्मो का सम्पादन नहीं होता है। इसलिए व्याधिरूपी अन्तराय विघ्न समाप्त हो जाता है। संचित पाप कर्म भी सत्कर्मो के सम्पादन से नष्ट हो जाते है।

(दो) स्त्यान : योग साधन के लिए मनुष्य को क्रियाशील होना पड़ता है। यदि मनुष्य क्रियाशील नहीं है तो यह स्त्यानरूपी विघ्न है। इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु मनुष्य को क्रियाशील होना पड़ता है। वैसे ही योग साधना की सिद्धि हेतु भी मनुष्य को सक्रिय होना पड़ता है। यदि वह योग साधना में अक्रिय रहता है अर्थात् चेष्टा विहीन रहता है तो भी योग साधना की सिद्धि संभव नहीं हो पाती। इसलिए मनुष्य को योग साधना के

प्रति सक्रिय रहकर उसका सम्पादन करना चाहिए। जिससे स्त्यान रूपी आन्तरिक विघ्न का समापन हो जाता है।

(तीन) संशय : यौगिक क्रिया किस प्रकार से सम्पन्न की जाएगी ? उसकी प्रक्रिया क्या होगी इसका सही सही ज्ञान तथा विनिश्चय न होना ही संशय कहलाता है। योग साधना में संशय बहुत ही महत्वपूर्ण विघ्न है। संशय की निवृत्ति दो प्रकार से होती है। एक कुशल आचार्य की सान्धियता में योग को सम्पादन करने से तथा दूसरे परमात्मा के पूर्ण आश्रय में चले जाने से भी संशय का निवारण स्वतः ही हो जाता है। संशय योग साधना में विशिष्ट अंतराय विघ्न है। जिसका समापन शीघ्रता से नहीं होता है। वर्तमान समय में योग गुरूओं का भी मिलना अत्यंत दुर्लभ माना जाता है। इसलिए यौगिक साधना के साधक को परमात्मा की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए। ऐसा करने से परमात्मा हमारे हृदय में उपस्थित होकर हमारे विचारों में हमारे संशयों का समापन कर देता है। वैसे परमात्मा कभी मनुष्यों के हृदय में नित्य उपस्थित रहता है परन्तु जब तक उसे पुकारा न जाए तब तक वह अज्ञान रूपी अंधकार का विनाश नहीं करता है। इसलिए संशय रूपी अंतराय विघ्न के समापन के लिए परमात्मा की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने से वह ज्ञानरूपी दीपक का प्रकटीकरण हमारे हृदय में कर देता है। जिससे संशयरूपी अंधकार स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

(चार) आलस्य : जब साधक के शरीर में सत्व गुण का अभाव रहता है अर्थात् सत्व गुण प्रकट नहीं होता है तब तमो गुण मिश्रित रजोगुण प्रबल हो जाता है, वैसे मनुष्य योग साधना की ओर तभी उन्मुख होता है जब उसमें तमोगुण का अभाव होता है तथा रजोगुण भी दब जाता है। जिससे सत्व गुण का प्रार्दुभाव स्वतः होता हैं परन्तु जब तक मनुष्य में रजोगुण सत्व गुण में मिला होता है तब तक उसमें आलस्य विशेष हो जाता है। क्योंकि ऐसे मनुष्य की प्रवृत्ति सांसारिक क्रियाकलापों की ओर अधिक रहती है। इसलिए आलस्य रूपी दोष अन्तराय विघ्न के रूप में उपस्थित हो जाता है और यह योग साधना में बाधक होता है। इससे साधक की प्रवृत्ति योग साधना की ओर क्षीण हो जाती है। इसलिए रज और तम गुण का समापन हमें करने का प्रयास करना चाहिए तथा सत्व गुण को प्रकट करने हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए। सत्वगुण के प्रकट हो जाने पर आलस्यरूपी दोष स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

(पांच) प्रमाद : ध्यान को लाभकारी समझकर भी उसके सम्पादन हेतु तत्पर न होना प्रमाद कहलाता है। जब साधक सांसारिक क्रियाकलापों की ओर उन्मुख रहता है और वह योग साधना की ओर नहीं बढ़ना चाहता तो इसे प्रमाद कहा जाता है। हमें कोई कार्य करना हे

तो हम यह जानते है कि हमें अमुक कार्य करना है। परन्तु उसे जान बूझकर न करे तो यह एक प्रकार से करने योग्य कर्म के प्रति उपेक्षा भाव ही कहा जाएगा। इसी को प्रमाद कहते है। लोगों को आपने ऐसा कहते हुए सुना होगा कि हम अमुक काम प्रमाद वश नहीं कर सकें। ब्रम्हमुर्हुत में जागकर भी प्रमाद वश नित्य कर्म हेतु न उठना तथा योग साधना में तत्पर न होना एक प्रकार का प्रमाद है। यह भी योग साधना में एक विघ्न माना जाता है। इसके समापन के लिए हमें यौगिक क्रियाओं की ओर बढ़ना चाहिए।

(छः) अविरति : सांसारिक वस्तुओं के प्रति जब आकर्षण हो जाता है तो मनुष्य उनके उपभोग की इच्छा करता है। यह सांसारिक वस्तुओं और भोगों का उपयोग इन्द्रियां मन के सहयोग से सम्पादित करती है जब तक हम संसार के भोगों में फंसते रहते है तब तक योग साधना के प्रति स्वतः ही अरूचि रहती है। अर्थात वैराग्य भाव का ह्रास रहता है। इसी को अविरति कहते है। जैसे सांसारिक भोगों के कारण देर रात तक जागना पडे तो ब्रम्ह मुहुर्त में उठना संभव नहीं हो पायेगा और शारीरिक अंगों में थकावट भी रहेगी। इससे हम योग साधना की ओर उन्मुख नहीं हो पायेंगे। यह अविरत रूपी दोष है। जो साधक को ध्यान के लिए विमुख करता है। इसलिए योग साधना के साधक को सांसारिक विषयों की ओर से अपना आकर्षण समाप्त करना चाहिए तथा उनके उपभोग की इच्छा की प्रबलता को भी समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा करने से अविरति रूपी अन्तराय विघ्न स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

(सात) भ्रान्ति दर्शन : किसी तथ्य का सम्यक् ज्ञान न होना तो संशय कहलाता है और त्रुटिपूर्ण मिथ्याज्ञान होना भ्रान्ति कहलाता है। ध्यान की क्रियाओं के प्रति संशय रहता है कि अमुक क्रिया सही है अथवा नहीं है परन्तु ध्यान के सम्बंध में मिथ्याज्ञान होना भ्रान्ति दर्शन कहलाता है। बहुत से लोग तामसी साधना से युक्त तांत्रिक क्रियाओं में विश्वास रखते है तथा ध्यान के वास्तविक उद्देश्य और स्वरूप से विमुख रहते है। वे तंत्र मंत्र को ही सर्वोपरि मानते है। इस मिथ्या ज्ञान ही भ्रान्ति दर्शन है। यह भी एक प्रकार का अन्तराय विघ्न माना जाता है। जैसे यौगिक व्यायाम को कुछ महानुभाव योग की संज्ञा देते है। परन्तु यौगिक व्यायाम तो योग की आरम्भिक स्थिति है जिसे योग की वर्णमाला कहा जाना उचित होगा। यौगिक व्यायामों को योग मान लेना भी भ्रान्ति दर्शन का एक प्रकार है।

(आठ) अलब्ध भूमिकत्व : एक साधन को ध्यान के उपरान्त भी उचित परिणाम जब प्राप्त नहीं होता है तो वह उद्विग्न हो जाता है। किसी भी सांसारिक कर्म के उचित परिणाम प्राप्त न होने पर मनुष्य में उचित परिणाम प्राप्त करने के प्रति उत्साह नहीं रहता है। इसी प्रकार ध्यान के साधक को जब अव्यक्त विषयक लाभ अपनी योग साधना से प्राप्त नहीं होता है

तो उसे भी मन में योग साधना के प्रति प्रतिकूल भाव उत्पन्न हो जाते है। यह अरूचि उत्पन्न कर देते है। उचित परिणाम की अनुपलब्धता के कारण यह अरूचि उत्पन्न होती है। इसे ही अलब्ध भूमिकत्व कहा जाता है। यह भी एक प्रकार का अंतराय विघ्न है। क्योंकि इससे भी ध्यान की क्रियाओं में बाधा रहती है। योग का अभीष्ट तथ्य तो परमात्मा है परन्तु वह अव्यक्त है। अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए हमें बहुत परिश्रम करना पड़ता है और निरन्तर ध्यान का सेवन करना पड़ता है। अव्यक्त के सहारे हम जब कोई साधना करते है तो निश्चय ही एक लम्बा अंतराल इस साधना के लिए आवश्यक होता है तभी अव्यक्त व्यक्त के रूप में प्रकट होता है। यही योग साधना में अलब्ध भूमिकत्व कहा जाता है। जो विशिष्ट अंतराय विघ्न है।

(नौ) अनवरिस्थतत्व : महर्षि पतंजलि ने चित्त के निरोध को योग कहा है। इस प्रकार योग साधना में चित्त की क्रियाओं को अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोका जाता है। चित्त सांसारिक चिंतन न करें परन्तु अभीष्ट का चिंतन करें, चित्त चूंकि चंचल, प्रमथनशील है। इसकारण वह शीघ्र ठहरता नहीं है। चित्त का ठहराव संसार में रहता है। इस कारण उसका ठहराव परमात्मा के स्वरूप में नहीं हो पाता। इसी विघ्न को अनवरिस्थतत्व कहा जाता है। यह भी विशिष्ट प्रकार का यौगिक दोष है। जिसे विशेष रूप से विघ्न मानना चाहिए। इस विघ्न का समाधान अभ्यास और वैराग्य से होता है। ऐसा महर्षि पतंजलि का मत है और ऐसा ही मत श्री गीता जी का भी है।

(ख) विक्षेप : विक्षेप के साथ उत्पन्न होने वाले पांच विघ्नों का महर्षि पतंजलि ने निरूपण किया है। यह विघ्न निम्न प्रकार के है–

(एक) दुःख : दुख तीन प्रकार का होता है। जिसे 1–आध्यात्मिक दुःख 2– अधिभौतिक दुःख तथा 3– अधिदैविक दुःख कहा जाता है। अध्यात्मिक दुःखों में जो मनुष्य में अनेक प्रकार की चिंताएं और मानसिक उत्पीड़न होता है उसे मानना चाहिए। आध्यात्मिक दुःख भी विशेष प्रकार का दुःख है जो मनुष्य को योग साधना से पृथक रखता है। यदि मनुष्य को किसी दूसरे मनुष्य किसी पशु से कीड़े से चोर और ज्वर आदि से कोई कष्ट हो जिससे दुःख उत्पन्न हो जाए तो इस दुःख को अधिभौतिक दुःख कहते है। चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसके सम्पर्क में उक्त लोग आते है। जिनसे कभी–कभी उसे प्रतिकूलता का आभास होता है। इसलिए अधिभौतिक दुःख को भी यौगिक क्रियाओं के लिए दोष अर्थात् विघ्न मानना चाहिए। अति वृष्टि हो जाए, बाढ़ आ जाए, सूखा पड़ जाए अग्निकांड हो जाए, भूकम्प प्रकट हो जाए, ओलावृष्टि हो जाए तो भी हमारे समक्ष अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएं उत्पन्न हो जाती है जो दुःख के रूप में होती है। इसप्रकार यह

दुःख भी योग साधना में बाधा के रूप में उपस्थित होते है और हमारे चित्त में दुःखों के प्रति चिंतन होता है। इसलिए तीनों प्रकार के दुःख योग साधना में विध्न माने जाते है।

(दो) दौर्मनस्य : संसार में रहकर मनुष्य की अनेक इच्छाएं रहती है और इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्नशील भी रहता है। जब प्रतिशीलता से भी मनुष्य की सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है तो उसके अंतःकरण में इच्छाओं की अपूर्ति न रहने का भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है जिससे भी वह दुःखी हो जाता है। इच्छाओं की पूर्ति न होने पर यदि मनुष्य ध्यान योग का अवलम्बन करता है तो उसकी ध्यान अवस्था में इच्छाओं की अपूर्ति से उत्पन्न दुःख का भाव रहता है। पुनः पुनः चित्त अपूर्ति की ओर स्वतः ही भाग जाता है। इस प्रकार दौर्मनस्य भी एक प्रकार का विघ्न है।

(तीन) अंगमेजयत्व : अंगों में कम्पन होना भी एक प्रकार का विघ्न माना जाता है। वात रोग की अधिकता के कारण मनुष्य के हाथ पैरों में कम्पन्न होने लगता है। इस कम्पन से उसे उठने बैठने, ध्यान के लिए स्थित रहने तथा ध्यान की क्रियाओं को सम्पादित करने में कठिनाई आती है। अंगों के कम्पन के कारण ध्यान योग का सम्यक रूपेण सम्पादन नहीं हो पाता है। इस प्रकार अंगमेजयत्व भी एक प्रकार का विघ्न है। इसे विक्षेप के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

(चार व पांच) श्वास प्रश्वास : कफकृत रोगों से मनुष्य को श्वास प्रश्वास में कठिनाई का आभास रहता है और श्वास प्रश्वास में निरन्तरता नहीं रहती है। आपने आभास किया होगा कि जब श्वास और प्रश्वास सही रूप से संचालित नहीं होती है तो हम एक प्रकार की विषय स्थिति का आभास करते है और यह श्वास प्रश्वास की अनियमितता यौगिक क्रियाओं के सम्पादन में बाधा उत्पन्न करती है। इसलिए श्वास प्रश्वास का अनियमित रूप से आना और जाना भी यौगिक साधना के लिए प्रमुख बाधा माना जाता है।

प्रश्न 116. इन विघ्नों का समापन कैसे होता है ?

उत्तर : महर्षि पतंजलि ने इन विघ्नों के समापन का भी उल्लेख किया है। परन्तु ध्यान योग के अनुकरण के जिज्ञासु साधक यदि संसार को विनाशी स्वभाव का समझ कर परमात्मा के नाम का जप तथा उसके स्वरूप का चिंतन आरम्भ करें और उसे प्रयत्नपूर्वक नित्य बढ़ाते रहे तो समस्त प्रकार के विघ्नों का समापन स्वतः ही हो जाएगा। परमात्मा के अधिकतम नाम जप से सत्व गुण तेजी से बढता है तथा उसके स्वरूप के चिंतन से सत्व गुण में मिला हुआ रजोगुण समाप्त हो जाता है और शुद्ध सत्व गुण प्रकट होता है। इससे सुख दुःख में समभाव उत्पन्न हो जाता है तथा अहंकार से निवृत्त की ओर साधक बढ़ता

है। ऐसे में उसके शरीर में रहने वाले रोग स्वतः ही समाप्त हो जाते है। अंगों में स्वाभाविक रूप से स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। यह ध्यान योग के साधक का शरीर स्वतः ही यौगिक साधना के तैयार हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा के नाम का जप तथा स्वरूप का चिंतन विघ्नों के विनाश हेतु अत्यंत लाभकारी होता है। इसका नित्य सेवन करने से ध्यान योग की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न 117. अष्टांग योग साधन क्या है ? इसके आठ अंग कौन कौन से है ?

उत्तर : महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का वर्णन अपने दार्शनिक ग्रंथ योगदर्शन में किया है। यद्यपि योग के आठ अंगों का वर्णन भगवान कपिल ने श्रीमद्भागवद् के तृतीय स्कंध के 28वें अध्याय में किया था। योग आठ अंगों का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि ने उनके प्रकारों का भी उल्लेख किया है। वे प्रकार है 1– यम, 2– नियम 3– आसन्न 4– प्राणायाम 5– प्रत्याहार 6– धारणा 7– ध्यान तथा 8 – समाधि। यम के पांच प्रकार है जिन्हें 1– अहिंसा 2– सत्य 3– अस्तेह 4– ब्रम्हचर्य 5– अपरिग्रह कहते है। इसी प्रकार नियम के भी पांच प्रकार है जिन्हें 1– शौच 2– संतोष 3– तप 4– स्वाध्याय 5– ईश्वर प्राणिधान कहते है।

प्रश्न 118. अहिंसा किसे कहते है ? इसकी पूर्णता से क्या लाभ है ?

उत्तर : मनसावाचाकर्मणा किसी का अहित न करने का भाव अहिंसा कहा जाता है। यह हिंसा शब्द के प्रतिकूल अर्थवाला शब्द है। मन में किसी के अहित का विचार न लाया जाए तथा अपने अहित करने वालों के प्रति भी अहित का भाव न रखा जाए तो अहिंसा की पराकाष्ठा कही जाती है। किसी को उद्विग्न करने वाला वचन न कहना प्राणी मात्र को चोट न पहुंचाना भी अहिंसा के रूप है। अहिंसा के सिद्ध हो जाने पर हिंसक प्राणी भी सम्मुख प्रकट होने पर हिंसा का भाव त्याग देते है।

प्रश्न 119. सत्य क्या है ? और इसकी सिद्धि का क्या फल है ?

उत्तर : इन्द्रियों, मन, बुद्धि से जैसा अनुभव, विचारण तथा विनिश्चय हो वैसा ही प्रकट करना सत्य कहलता है। अधिकांशतः मनुष्य अनुकूल तथा विचारित विषयों को मिथ्या रूप से प्रकट करता है। इसी को सत्य कहते है। सत्य के पालन से मनुष्य में श्राप तथा वरदान देने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न 120. अस्तेय किसे कहते है ? इसकी सिद्धि का क्या फल है ?

उत्तर : चोरी करना स्तेय कहा जाता है। और चोरी न करना अस्तेय कहा जाता है। शास्त्र की आज्ञा के अनुसार मनुष्य को शास्त्र सम्मत कर्म करके जीविका का उर्पाजन करना चाहिए तथा शास्त्र सम्यक् धन के उर्पाजन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्र सम्यक् ढंग से उपार्जित धन में कुछ भाग गरीबों की सहायता के लिए अवश्य देना चाहिए। अनैतिक कर्मो से उपार्जित धन को स्तेय की श्रेणी में समझना चाहिए। अस्तेय की सिद्धि हो जाने पर मनुष्य के समक्ष गुप्त रत्न तथा गुप्त खजाना स्वतः ही प्रकट हो जाता है।

प्रश्न 121. ब्रह्मचर्य क्या है ? तथा इसके पालन का क्या परिणाम है ?

उत्तर : ब्रह्मचर्य के आठ प्रकारों का वर्णन शास्त्रों में आता है। जिन्हें 1– स्मरण अर्थात् स्मरण करना 2– कीर्तन अर्थात् प्रियता से बातचीत करना 3– केलि अर्थात् असंगत बातचीत करना 4– प्रेक्षणम अर्थात् विचारपूर्वक देखना 5– गुह्यभाषणम् अर्थात् एकान्त में रहस्यात्मक बातचीत करना 6– संकल्प अर्थात् गुह्यभ्पाषण का विनिश्चय करना 7– अध्यवसाय अर्थात् क्रिया का विनिश्चय करना तथा 8– क्रिया निष्पत्ति अर्थात् क्रिया का सम्पादन करना। इस प्रकार आठ प्रकार के ब्रहचर्य का पालन करना पूर्ण ब्रम्हचर्य का पालन करना कहा जाता है। इसके पूर्णतः पालन करने से शरीर में विभिन्न प्रकार के बल का प्रार्दुभाव हो जाता है तथा समस्त रोग स्वतः ही नष्ट हो जाते है।

प्रश्न 122. अपरिग्रह किसे कहते है ? इसकी सिद्धि से क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर : हम सभी को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक सांसारिक वस्तुओं का संग्रह जीवन पर्यन्त करना पडता है। एक के पश्चात् दूसरी का संग्रह करने की इच्छा रहती है। इस क्रिया को परिग्रह कहा जाता है। जीवन में वस्तुओं के संग्रह की इच्छा का पूर्ण अभाव हो जाना ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह की परिपक्वता में पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है। वस्तुओं की आवश्यकता का अभाव ही अपरिग्रह की पराकाष्ठा है। जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो पूर्व में हमारे कितने जन्म हुए है इसका ज्ञान मनुष्य को हो जाता है।

प्रश्न 123. शौच किसे कहते है ? तथा इसकी पूर्ण सिद्धि से क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर : शौच शुद्धि का पर्याय है। यह दो प्रकार का होता है 1– बाह्य सिद्धि तथा दूसरी आन्तरिक सिद्धि। शौच स्नानादि से शरीर को पवित्र रखना तथा मल मूत्र के पश्चात्

स्वच्छता रखना यह बाह्य सिद्धि कहलाता है। इसकी सिद्धि से संसर्ग की इच्छा का स्वतः अभाव हो जाता है। अर्थात् संसर्ग के प्रति अनिच्छा का भाव प्रकट हो जाता है। शरीर में विषयों के प्रति अरूचि हो जाती है। किसी के प्रति अहितकर विचार न रखना यह आन्तरिक शुद्धि कही जाती है। आन्तरिक शुद्धि की पूर्णतः से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है तथा अंतःकरण के एक भाग चित्त में एकाग्रता का आभास होता है। इन्द्रियां अपने विषयों से विमुख हो जाती है तथा साधक में तत्व दर्शन की योग्यता का स्वतः ही प्रार्दुभाव होता है।

प्रश्न 124. संतोष किसे कहते है ? और इसकी पूर्णता से क्या लाभ होता है ?

उत्तर : परमात्मा के द्वारा जो कुछ भी उपलब्ध कराया गया है उसमें पूर्ण प्रसन्न रहना तथा कभी असंतोष न व्यक्त करना ही संतोष कहलाता है। सांसारिक जीवन में जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए अनुपलब्ध वस्तुओं की प्राप्ति न होने से जो दुःख अप्रसन्नता का भाव उत्पन्न हो जाता है उसे असंतोष कहते है। असंतोष के प्रतिकूल संतोष में प्रत्येक स्थिति में प्रसन्नता रहती है। हमारे कर्मो के परिणाम से हमारे समक्ष संसार की परिस्थितियां प्रतिकूल अथवा अनुकूल उत्पन्न हो जाती है। इस कारण परिस्थितियों के उर्पाजन में हमारे कर्म ही आधार है। इसलिए हमें परमात्मा की व्यवस्था में सदैव सुख का आभास करना चाहिए। संतोष की सिद्धि से मन में विशिष्ट प्रसन्नता का प्रार्दुभाव हो जाता है।

प्रश्न 125. तप किसे कहते है ? और तप की पूर्णतः का क्या लाभ है ?

उत्तर : तप तीन प्रकार के होते है जिन्हें 1– शारीरिक तप 2– वाचिक तप तथा 3– मानसिक तप कहा जाता है। देवगणों, ब्राम्हणों, आचार्यो, तत्वदर्शी पुरूषों का पूजन करना, शुद्धि, सरलता, अहिंसा का पालन करना इसे शारीरिक तप कहते है। सत्य, प्रिय, हितकारक वचनों का बोलना तथा किसी को उद्विग्न न करने वाले वचन कहना स्वाध्याय तथा परमात्मा के नाम का स्मरण वाणी सम्बंधी तप है। मन का प्रसन्न रहना, सौम्य भाव मन को नियंत्रित रखना तथा भावों की सिद्धि मानसिक तक का रूप है। तप से शरीर में विशिष्ट बल, इन्द्रियों को संयमित रखने की प्रवृत्ति तथा विषयों से निवृत्ति आदि स्वतः ही प्रकट हो जाते है। इसके अतिरिक्त आत्मबल की भी वृद्धि हो जाती है।

प्रश्न 126. स्वाध्याय किसे कहते है तथा इसकी पूर्णतः से क्या लाभ होता है ?

उत्तर : सद्ग्रंथों से अध्ययन से संलग्न हो जाना तथा अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना ही स्वाध्याय कहा जाता है।

स्वाध्याय से विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान तो प्राप्त ही होता है साथ ही साथ ईष्ट के साक्षात्कार की योग्यता भी प्राप्त हो जाती है। स्वाध्याय सभी मनुष्यों के लिए विशिष्ट कर्तव्य कर्म है। इसे प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न 127. ईश्वर प्राणिधान किसे कहते है ? तथा इसकी सिद्धि से क्या लाभ प्राप्त होता है?

उत्तर : परमात्मा का पूर्ण आश्रय ग्रहण करना ही ईश्वर प्राणिधान है। साधारणतः हम सभी संसार का आश्रय ग्रहण किये रहते है। संसार के आश्रय से ही कर्म करते है और उसी के आश्रय में रहते है। कभी–कभी परमात्मा का आश्रय लेने का प्रयास भी करते है परन्तु संसार के आश्रय का पूर्ण त्याग नहीं हो पाता है। ईश्वर प्राणिधान में संसार के आश्रय का पूर्ण परित्याग हो जाता है तथा परमात्मा के आश्रय का पूर्ण रूपेण ग्रहण होता है। ईश्वर प्राणिधान की पूर्णतः में हमें परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त हो जाती है तथा समाधि की स्थिति सहज भाव से उपलब्ध होती है।

प्रश्न 128. आसन किसे कहते है ? इसकी सिद्धि से क्या लाभ है ?

उत्तर : सुख पूर्वक एक स्थिति में बैठने का नाम आसन कहा जाता है। किसी भी मुद्रा में हम जब दीर्घ समय तक बैठते है अर्थात् काफी अंतराल तक बैठते है तो हमें कष्ट का आभास होता है और शरीर में पीड़ा का अनुभव होने लगता है। एक आसन पर एक ही मुद्रा में बैठने पर जब कष्ट का पीड़ा का आभास न हो तो हमें आसन की सिद्धि समझनी चाहिए। आसन की सिद्धि से साधक को शीत उष्ण अर्थात् सर्दी गर्मी के प्रकोप से बचाव हो जाता है। साधक शीतकाल में भी रह सकता है और गर्मी में भी प्रतिकूलता का आभास नहीं करता है।

प्रश्न 129. प्राणायम क्या है ? तथा इसकी सिद्धि से क्या लाभ होता है ?

उत्तर : प्राणों के आयाम को प्राणायम कहा जाता है। जब स्वांस प्रस्वांस की गति को रोका जाता है तथा बिना कष्ट के श्वास प्रस्वांस की गति को रोके रखा जाता है तो इसे प्राणों का आयाम होना कहते है। प्राण निरन्तर गतिशील रहता है। यह नासिका के मार्ग से होता हुआ कंठ और हृदय तक गति करता है। इसी गति में विराम देना ही प्राणायाम कहलाता है। महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के चार प्रकारों का वर्णन किया है। जिसे 1– बाह्य वृत्ति 2– आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम 3– स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम 4– बाहयान्तर प्राणायाम। प्राणायाम की सिद्धि से विशिष्ट शारीरिक शक्ति तो प्राप्त होती है तथा परमात्मा

के साक्षात्मकार की योग्यता का प्रार्दुभाव भी इससे माना जाता है। चित्त को संयंमित करने में प्राणायाम का विशेष महत्व है।

प्रश्न 130. प्रत्याहार क्या है ? तथा इसकी सिद्धि से क्या लाभ प्राप्त होता है ?

उत्तर : प्राणायाम के अभ्यास से मन तथा इन्द्रियों की वृत्तियां सिमट कर मन में समाहित हो जाती है तो यह क्रिया प्रत्याहार कहलाती है। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों को संयमित करने की योग्यता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न 131. धारणा किसे कहते है ? और इसकी सिद्धि से क्या लाभ है ?

उत्तर : चिंतन चित्त की वृत्ति है। सांसारिक विषयों का यह चिंतन निरन्तर स्वतः ही हुआ करता है। चित्त सांसारिक चिंतन से मुक्त होकर जब एक स्थान पर ठहरता है अर्थात् विशेषकर ईष्ट में समाहित होने लगता है तो इस स्थिति को धारणा कहते है। धारणा की सिद्धि में सांसारिक चिंतन से मुक्ति प्राप्त हो जाती है तथा ईष्ट के चिंतन में चिंतन की योग्यता प्राप्त होती है। यही धारणा की सिद्धि का लाभ है।

प्रश्न 132. ध्यान किसे कहते है ? इसकी सिद्धि का क्या फल है ?

उत्तर : अभीष्ट वस्तु जिस पर ध्यान लगाया जाए वहां से चित्त का न हटना ही ध्यान है। जैसे संसार से ध्यान नही हटता है स्वतः सांसारिक वस्तुओं और आकर्षण विषयों की ओर ध्यान जाता है। हम संसार से जब ध्यान हटाते है फिर भी चित्त सांसारिक विषयों में अनायास ही पहुंच जाता है। इसी प्रकार जब अभीष्ट का ध्यान किया जाता है तब उस स्थान पर नदी की धारा से सतत प्रवाह रहता है तो इसी का नाम ध्यान है। ध्यान की परिपक्व स्थिति का ध्यान करते हुए श्री गीताजी में यह कहा गया है कि वायु की हलचल से रहित दीपक ज्योति की तरह से चित्त की स्थिति हो जाती है। ध्यान की सिद्धि से अभीष्ट का आभास हो जाता है। साधक को अपने परिणाम में अनुकूलता प्रतीत होने लगती है। यहां पर साधक को परिणाम दृष्टिगोचर होता है।

प्रश्न 133. समाधि किसे कहते है ? तथा इसकी सिद्धि से क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर : अपने ईष्ट की प्रतीती होना ही समाधि है। ऐसे साधक को अपने स्वस्वरूप की स्थिति का ज्ञान हो जाता है और साधक स्वस्वरूप में स्थिति भी हो जाता है। स्थिति का ज्ञान होना निकृष्ट स्थिति है और स्वरूवरूप में स्थित हो जाना उत्कृष्ट स्थिति है। इसी

को समाधि कहना चाहिए। साधक को परमात्मा का नित्य आभास रहता है। जैसे हम संसार में जब पूर्णतयः लिप्त होते है और सांसारिक विषयों का उपभोग करते है तो हमें सांसारिक विषयों का संसर्ग रहता है। सांसारिक विषयों में हम समाहित होने लगते है। इसी प्रकार समाधि की अवस्था में परमात्मा का संसर्ग रहता है और साधक परमात्मा में समाहित होने लगता है। संसारिक संसर्ग और समाधि के संसर्ग की तुलना तो नहीं हो सकती इस तथ्य को इस स्थल पर समझने के लिए प्रस्तुत किया गया है। संसार का संसर्ग पृथक प्रकार का है और उसके विषयों में समाहित होना भी पृथक प्रकार का है परन्तु परमात्मा का संसर्ग और परमात्मा में समाहित होने की स्थिति पृथक प्रकार की है। इसी को परमानन्द, परम शान्ति, ब्रम्ह निर्वाण आदि आदि तथ्यों से शास्त्रों में प्रकट किया गया है। समाधि की अवस्था एक विलक्षण अवस्था है। जहां पर साधक को जाकर परमात्मा की निकटता का और उसके साथ सामंजस्यता का स्पष्ट आभास होता है। ऐसे में परमात्मा की सत्ता ही सर्वत्र प्रतीत होती है। संसार की सत्ता का अभाव हो जाता है। चारों ओर परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सत्ता की अनुभूति होने लगती है। समाधि का फल अर्थात् परिणाम परमात्मा का साक्षात्कार कहा जाता है जो मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है।

प्रश्न 134. ईष्ट का ध्यान सर्वकालिक रहे इसका सहज साधन क्या है ?

उत्तर : संसार में मन रहता है। साधारण व्यक्तियों का मन सर्वकालिक रूप से संसार में रहता है। संसार में मन रहने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। बिना प्रयत्न के बिना प्रयास के ही मन संसार में रमा रहता है। इसी प्रकार हम परमात्मा के बारे में ही विचार करने का प्रयास करें यह प्रयास तो आरम्भिक स्थिति में हमें करना पड़ेगा। परन्तु धीरे–धीरे ऐसा अभ्यास करने से संसार से मन हटेगा और परमात्मा में मन रमेगा। मन की यही विशेषतः है कि मन जहां कहीं लगाया जाता है वहां वह कुछ समय के पश्चात् स्वतः ही लगने लगता है। संसार में सांसारिक विषयों में हमें प्रियता का अर्थात् अच्छेपन का आभास रहता है। इस कारण हम उसके बारे में विचार करते रहते है। अर्थात् संसार और सांसारिक विषयों के सम्बंध में चिंतन करते रहते है। हमें परमात्मा में प्रियता का आभास करने के लिए संसार से मन हटाकर परमात्मा में धीरे–धीरे मन को समाहित करना चाहिए। जब मन परमात्मा में रमेगा तो स्वतः ही परमात्मा में ही स्थापित रहेगा और समय पाकर यह स्थिति सर्वकालिक हो जाएगी। ऐसी स्थिति में हमें परमात्मा का नित्य आभास हो जाएगा। मन को माया का रूप समझना चाहिए। जब तक मन संसार में रहता है तब तक माया उसे संसार में घुमाया करती है और जब मन परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है तो माया उसे छोड़कर चली जाती है और ऐसी स्थिति में परमात्मा में मन में रच बस जाता है। यही

परमात्मा की प्राप्ति का सहज साधन और उपाय है। जिन मनुष्यों का मन संसार में रमता है और संसार में ही रहकर नित्य निरन्तर सांसारिक विषयों का सेवन करता है उन मनुष्यों के लिए योग प्राप्ति अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार अत्यंत दुर्लभ विषय है। क्योंकि असंयत मन से योग की प्राप्ति दुर्लभ कही जाती है।

प्रश्न 135. वर्तमान में अनेक सम्प्रदाय मत मतान्तर है। किस सम्प्रादय तथा मत मतान्तर को मानना उचित है ?

उत्तर : सृष्टि के आदिकाल में अर्थात् जब सृष्टि आरम्भ हुई तब से वैदिक सनातन धर्म का उद्भव माना जाता है। वेदों का प्रार्दुभाव सृष्टि के उद्भव के साथ हुआ था। उसके पश्चात् समय के साथ–साथ अनेक सम्प्रदायों, मत मतान्तरों की स्थापना होती गई। इसी कारण विश्व में जितने भी मत मतान्तर सम्प्रदाय है उनके धर्म ग्रंथों में जो विषय वस्तु है वह सबकी सब पहले से ही उपलब्ध है। वर्तमान में भारतवर्ष में जितने भी सम्प्रदाय और मत मतान्तर है उनके धर्म ग्रंथों की सम्पूर्ण विषय वस्तु वेदों, उपनिषदों, दार्शनिक ग्रंथों, महाभारत अथवा पौराणिक ग्रंथों में पहले से ही उपलब्ध है। इस कारण समस्त मत मतान्तरों, सम्प्रदायों को वैदिक सनातन धर्म की शाखाएं मानना चाहिए।

प्रश्न 136. अपने कल्याण के लिए मनुष्य को किस सम्प्रदाय, मत मतान्तर का अनुकरण करना चाहिए ?

उत्तर : मनुष्य अपने ही मत मतान्तर, सम्प्रदाय, पंत में रहकर अपने कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है। मनुष्य किसी भी मत मतान्तर तथा सम्प्रदाय में रहे परन्तु उसे सत्व के संज्ञान हेतु अन्य सम्प्रदाय के ग्रंथों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करना चाहिए। जब तक सत्य का ज्ञान न हो तब तक उसे निरन्तर ही प्रत्यत्न शील रहना चाहिए। सभी सम्प्रदाय मत मतान्तर का अभीष्ट परमात्मा है। तथा सभी परमात्मा की सत्ता और उसके अस्तित्व को स्वीकार करते है। परमात्मा की अनुभूति हमें कैसे होगी इस बारे में हमें विचार करके उसकी अनुभूति कर लेनी चाहिए। यही मानव के कल्याण का पथ है तथा उसका इसमें वास्तविक हित और लाभ है।

प्रश्न 137. वर्तमान समय में बहुत से महानुभावों ने अपने को भगवान का अवतार आदि घोषित कर दिया है तथा कई पूज्य महिलाओं ने अपने को आदिशक्ति के रूप में बताया है इसमें सत्यता क्या है ?

उत्तर : कोई मनुष्य भगवान नहीं हो सकता। न ही भगवान के स्वरूप में प्रकट हो सकता है। और कोई भी महिला आदि शक्ति के रूप में नहीं हो सकती है। मनुष्य का मनुष्य रहने में अधिकार है। वह देवता, ब्रह्मा,शिव आदि कदापि नहीं हो सकता और न ही परमात्मा का स्वरूप हो सकता है। इसी प्रकार कोई महिला कदापि आदि शक्ति नहीं हो सकती। ऐसे लोग आध्यात्मिक जगत में अनेक प्रकार के दुष्प्रचार कर रहे है तथा उन्हें परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार दंड का भागी बनना पड़ेगा। परमात्मा की सत्ता सर्वत्र है। हमें स्वयं उसकी सत्ता में विश्वास करना चाहिए और हमें अपने को कभी भी भगवान के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। ऐसा करना आध्यात्मिक दुष्कर्म माना जाता है और इससे दो प्रकार के दुष्कर्म हो जाते है। एक तो स्वयं हम जो नहीं है उसको प्रस्तुत करने का प्रयास करते है यह एक प्रकार का दुष्कर्म है और दूसरे हम अन्य लोगों को संशयग्रस्त कर देते है तथा उन्हें भ्रमित करने का पाप करते है। इसलिए हमें दोहरा पाप लगता है।

प्रश्न 138. आश्रम की व्यवस्था वर्तमान में छिन्न भिन्न सी हो गई है । ऐसा क्यों है ?

उत्तर : सनातन धर्म के ग्रंथों में चार आश्रमों का उल्लेख है जिन्हें 1 ब्रम्हचर्य 2– ग्रहस्थ 3– वानप्रस्थ तथा 4– संन्यास कहा जाता है। शास्त्रों के अनुसार 25 वर्षो तक ब्रम्हचर्य की अवस्था कही जाती है। पचास वर्षो तक ग्रहस्थ आश्रम कहा जाता है। पचास से पच्छत्तर वर्षो तक वानप्रस्थ आश्रम तथा पच्छत्तर वर्षो से सौ वर्षो तक संन्यास आश्रम माना जाता है। यह व्यवस्था आज भी चल रही है। ब्रम्हचर्य काल में मनुष्य अध्ययन करता है और उसके पश्चात् ग्रहस्थ आश्रम का पालन करता है। ग्रहस्थ धर्म का पालन करके जब उसकी अवस्था पचास वर्ष की हो जाती है तो मनुष्य के मन में स्वतः ही ग्रहस्थ आश्रम के प्रति अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने की ओर स्वतः ही उन्मुख होता है। ऐसा स्वभाव से होता है। यही वानप्रस्थ आश्रम की विशेषतः है। 75 वर्ष की आयु के पश्चात् आध्यात्मिक पुरूष के समस्त अंग इन्द्रियां शिथिल सी हो जाती है और वह स्वतः ही परमात्मा की अनुभूति का प्रयास करता है और मनुष्य संसार में विगत होना चाहता है। उसकी बुद्धि परमात्मा की ओर आकर्षित होती है। हमें आश्रम धर्म का पालन करना चाहिए जो कि प्रकृति प्रदत्त है। हम कभी भी इस व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर सकते है और जो लोग इस व्यवस्था का अतिक्रमण करते है उन्हे कुसमय ही मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है। यदि हम आश्रम व्यवस्था का पालन करते है तो निश्चित ही सौ वर्षो की आयु प्राप्त करते है और प्रकृति व्यवस्था का जब अतिक्रमण करते है तो हमें

अल्पआयु में ही इस संसार को छोड़ना पड़ता है। इसलिए वर्तमान समय में भी आश्रम की व्यवस्था लागू है जो हमें प्रतीत नहीं हो रही है। यही खेद का विषय है।

प्रश्न 139. संन्यास क्या है और संन्यासी किसे कहते है ?

उत्तर : संन्यास धर्म की दीक्षा लेने वाला संन्यासी कहलाता है परन्तु जो मनुष्य न तो आकांक्षा करता है और न ही द्वेष करता है वह भी संन्यासी ही समझने योग्य है। सामान्य मनुष्यों में सांसारिक वस्तुओं अर्थात् धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, की प्राप्ति की आकांक्षा रहती है तथा इसी कारण वह इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भी रहता है। संन्यासी में किसी वस्तु आकांक्षा नहीं रहती है। इस कारण उसका द्वेष भाव भी समाप्त हो जाता है। कुछ आकांक्षा नहीं रहेगी तो द्वेषभाव का समापन स्वतः हो जाएगा। जब किसी सन्यासी व्यक्ति में कुछ सांसारिक वस्तुओं की आकांक्षा रह जाती है तो वह अपनी संन्यासी की स्थिति से घिर जाता है। मान सम्मान के प्रति यदि उसकी आकांक्षा रहती है तो वह नित्य संन्यासी मानने योग्य नहीं है। इसी प्रकार सन्यासी किसी से भी द्वेष नहीं करता है और किसी से भी किसी वस्तु की अपेक्षा नही करता है। यही संन्यासी की विशेषता है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः संन्यासी ही मानने योग्य है। वह चाहे किसी वर्ण आश्रम का मनुष्य हो।

प्रश्न 140. कुछ साधुजन, सन्यासी, ईर्ष्या, द्वेष आदि द्वंदों में फंसे रहते है तथा सांसारिक वस्तुओं का संग्रह करते रहते है उनकी क्या स्थिति है ?

उत्तर : सभी संत जन परम आदरणीय होते है। उनका हमें सम्मान करना चाहिए। हम सभी को उनकी पूजा उपासना करनी चाहिए कतिपय कारणों से माया की प्रबलता से अनेक साधुजन सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की ओर उन्मुख हो जाते है। आकृष्ट होते है तथा प्रबल दुष्तर त्रिगुणीमयी माया उनके विचारों को दूषित कर देती है। इस प्रबल माया ने ब्रम्हर्षि नारद जैसे साधुजनों को भी मोहित कर दिया है। इसलिए सामान्य साधु संतों की बात ही क्या है ? अर्थात् उन्हें माया मोहित करती है और अपने जाल में फंसा लेती है। उसमें उनका कोई दोष नहीं है। वे सर्वथा पूज्यनीय ही है।

प्रश्न 141. माया क्या है ? इसका क्या प्रभाव है ?

उत्तर : परमात्मा की पराशक्ति को माया कहा जाता है। परमात्मा ने मायारूपी शक्ति को ब्रह्मांड में प्रकट कर दिया है। इसी शक्ति ने अनेक प्रकार से मनुष्यों को मोहित करना आरम्भ किया। सृष्टि के आदिकाल से अब तक परमात्मा की पराशक्ति अर्थात् माया अनेक

रूपों में उपस्थित होकर मनुष्यों को मोहित करती रहती है और वर्तमान में भी परमात्मा के आदेश का पालन कर रही है तथा भविष्य में भी करती रहेगी। माया के प्रभाव से ही मनुष्य संसार में नाना प्रकार के कर्म करता रहता है।

प्रश्न 142. परमात्मा की पराशक्ति माया की विशेषता क्या है ?

उत्तर : परमात्मा की पराशक्ति माया ने समस्त संसार को मोहित कर रखा है। बड़े बड़े ज्ञानी, संत, महात्मा, विद्वान सभी इसकी शक्ति से मोहित है और यह सभी को अपने आकर्षण में आवृत्त किये हुए है। जैसे सूर्य के प्रकाश का समस्त भूमंडल पर प्रभाव रहता है। वैसे ही इस माया ने समस्त जगत को प्रभावित कर रखा है। प्रत्येक मनुष्य माया से प्रेरित होकर ही पृथक–पृथक कार्यो में लगा हुआ है जिसके प्रभाव को सामान्य मनुष्य जान नहीं सकता है। जब सामान्य मनुष्य माया के प्रभाव को जान नहीं सकता है तो उसके प्रभाव से प्रभावित रहकर ही नाना प्रकार के कर्म किया करता है। माया दीखती नहीं है परन्तु हम सब उसके प्रभाव से आवृत्त रहते है तथा प्रभावित होकर अनेक प्रकार की क्रियाएं करते रहते है। यही माया की विशेषतः है। माया अव्यक्त है वह हमें दीखती नहीं है परन्तु प्रभावित अवश्य करती है। यही इस माया की प्रबलता कही जाती है।

प्रश्न 143. माया का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : माया अनादि है अर्थात् आदि वाली नहीं है ? सृष्टि काल से ही हमे वह प्रभावित करती आ रही है यह अव्यक्त है अर्थात् व्यक्त नहीं है। व्यक्त सत्ता हमें प्रतीत होती है। परन्तु अव्यक्त सत्ता हमें प्रतीत नही होती है। व्यक्त सत्ता को हम अपनी आंखों से देख सकते है। ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से उसका आभास और विचार किया जा सकता है। बुद्धि के द्वारा उसके अस्तित्व का विनिश्चय हो सकता है परन्तु माया का यह अव्यक्त स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के द्वारा आभास नहीं किया जा सकता है तथा बुद्धि के द्वारा अव्यक्त माया का विनिश्चय भी नहीं हो सकता है। विशिष्ट तथ्य यह है कि यह अव्यक्त होकर भी पूर्ण व्यक्त सत्ता की तरह से कार्य करती है। यह माया अविद्या के रूप में है और अविद्या तथा ज्ञान का पर्याय कही जाती है। मनुष्यों में सत्व तत्व के प्रति अज्ञान उत्पन्न कर देना ही इस माया का प्रमुख कार्य है। माया के प्रभाव से हम अंजान रहते है। क्योंकि वह हमारे में अज्ञान की उत्पत्ति करती है। इसके साथ ही यह माया त्रिगुणमयी है। अर्थात् माया ने अपने तीन रूपों को ग्रहण किया है। इस कारण इसे त्रिगुणमयी कहते है। यही माया का स्वरूप है।

प्रश्न 144. त्रिगुणीमयी माया का क्या अर्थ है ?

उत्तर : त्रिगुणीमयी माया का अर्थ है कि यह तीन गुण वाली है। अर्थात् तीन प्रकार की है। जिन्हें 1– सात्विक माया 2– राजसी माया 3– तामसी माया कहा जाता है। एक ही माया अपने तीन रूपों को धारण कर लेती है तथा तीनों प्रकार से मनुष्य को मोहित करती रहती है। सात्विक माया तथा राजसी माया और तामसी माया अपने स्वरूपों को धारण करके प्रत्येक मनुष्य को अनेक प्रकार से अपने आकर्षण में फंसा लेती है।

प्रश्न 145. सात्विक माया किस प्रकार से मनुष्यों को मोहित करती है ?

उत्तर : जो मनुष्य सत्व गुण से प्रभावित रहते है उन्हें सात्विक माया मोहित करती रहती है। मनुष्य में रज तथा तम गुणों का जब समापन सा हो जाता है तब सत्व गुण बढ़ जाता है। सत्व गुण बढ़ने से मनुष्य देवी देवताओं की उपासना, गरीबों की सेवा, समाज के उत्थान के लिए कार्य करता है। अथवा आध्यात्मिक ज्ञान का अर्जन करके परमात्मा की ओर उन्मुख हेा जाता है। ऐसे में सात्विक माया शुभ कर्मो की आसक्ति से अर्थात् सुख प्राप्त होने की इच्छा से तथा ज्ञान की आसक्ति से सत्वगुणी पुरूषों को मोहित कर देती है। देवी देवताओं की उपासना का सकाम भाव से फलेच्छा के भाव से पूजन इसी कारण होता है। समाज सेवा के उपरान्त पूर्ण लाभ प्राप्त करने का भाव, सुख का अभाव, प्रतिष्ठा ख्याति का भाव सात्विक माया का कार्य रूप है। शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् ज्ञान के अहंकार का उद्भव सात्विक माया का ही कार्यरूप समझना चाहिए। इस प्रकार सात्विक माया सत्व गुण से प्रभावित लोगों को मोहित करके तत्व दर्शन से विमुख कर देती है। साधु संत भी इस माया के प्रभाव से प्रभावित होकर ख्याति, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि की आकांक्षा करते देखे जाते है तथा आध्यात्मिक पदों को सुशोभित करना चाहते है।

प्रश्न 146. राजसी माया किस प्रकार के पुरूषों को मोहित करती है ?

उत्तर : राजसी माया रजोगुण प्रधान पुरूषो को प्रभावित करती है। इस माया के प्रभाव से ही रजोगुणी मनुष्य धन, सम्पदा, पद, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति का प्रयास करता है। हम सब संसार में रहकर नाना प्रकार के प्रपंचों में फंसे रहते है तथा सांसारिक भोग वस्तु के संग्रह का प्रयास करते है और ऐसे कार्यो में सुख मानते है। यह माया का ही कार्य रूप तथा इसे माया का ही प्रभाव समझना चाहिए। धन की प्राप्ति की इच्छा करना तथा प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना राजसी माया का कार्य है। इस प्रकार राजसी माया ही संसार के लोगों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती है तथा पृथक–पृथक कर्मो में लगाये रखती है।

राजसी माया से प्रभावित पुरूष जगत की वस्तुओं की प्राप्ति के सम्बंध में विचार करता रहता है। इस प्रकार राजसी माया ही संसार के लोगों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती है तथा अनेक प्रकार से सांसारिक कर्मो में लगाये रखती है। मनुष्य की सांसारिक कर्मो में संलग्नता राजसी माया का कार्यरूप समझना चाहिए।

प्रश्न 147. तामसी माया किस प्रकार से मनुष्यों को मोहित करती है ?

उत्तर : तामसी माया तमोगुण से प्रभावित पुरूषों को मोहित करती है। तमो गुण से प्रभावित पुरूष अनेक प्रकार के अनैतिक अवैधानिक, हिंसादि कर्मो की ओर प्रवृत्त हो जाते है तो यह तामसी माया का ही कार्यरूप और प्रभाव समझना चाहिए। तमोगुणी मनुष्य हिंसा आदि कर्म, लूटमार, चोरी डकैती, व्यभिचार आदि कर्म तामसी माया के प्रभाव से ही करता रहता है। तामसी माया ही तमोगुणी मनुष्य को ऐसे दुष्कर्मो की ओर प्रेरित करती है तथा तामसी मनुष्य को अज्ञान से आवृत्त कर देती है। यदि मनुष्य विद्वान भी हो और वह आसामाजिक कर्म करने को उद्वत हो तो इसे तामसी माया का ही कार्यरूप समझना चाहिए। तामसी माया मनुष्य की बुद्धि को भ्रमित और संशयग्रस्त कर देती है। जिससे प्रत्येक तत्व का वह प्रतिकूल अर्थ निकालता है। जब विद्वान पुरूष इसी तथ्य का प्रतिकूल अर्थ निकाले तो उसे तामसी माया के प्रभाव से प्रभावित मानना चाहिए। इसी प्रकार तामसी माया का स्वरूप बहुत ही दुष्तर है तथा मनुष्य को दुष्कर्मो की ओर प्रेरित करता है।

प्रश्न 148. माया की सत्ता तथा उसके प्रभाव का अनुमान कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर : माया की सत्ता तथा उसके प्रभाव का अनुमान उसके कार्य से होता है। अव्यक्त माया समस्त मनुष्यों को प्रभावित रखती है। यह उसका विशिष्ट कार्य ही है। माया ने हम सभी को प्रभावित कर रखा है। माया प्रत्येक मनुष्य को प्रभावित करती है तथा मानव शरीर उसके प्रभाव से आच्छादित रहकर भी नाना प्रकार के कर्म करता है। वे नाना प्रकार के कर्म करवाती है परन्तु अप्रकट रहती हऊ। यह उसकी सत्ता का प्रतीक है। हम सभी उसी के प्रभाव से प्रभावित है तथा अनेक प्रकार की चेष्टाएं करते रहते है। इसलिए उसका प्रभाव बहुत ही प्रबल है।

प्रश्न 149. माया सर्वत्र व्याप्त है तो क्या सत है ?

उत्तर : माया सत नही है क्योंकि उसकी सत्ता प्रतीत नहीं होती। परन्तु है नहीं। जिसकी सत्ता रहता है वह सत होता है। प्रतीत होने से सत का निर्धारण नहीं हो सकता। इस कारण माया सत नही है।

प्रश्न 150. क्या माया असत है ?

उत्तर : माया असत भी नहीं है। क्योंकि वह अपना प्रभाव प्रकट करती है। उसके प्रभाव से प्रभावित अनेक संत विद्वान भी नाना प्रकार के शास्त्र प्रतिकूल कर्म करते देखे जाते है। इस कारण वह विशिष्ट प्रभाव रखने वाली माया को असत नही कहा जा सकता है।

प्रश्न 151. क्या माया साकार है ?

उत्तर : माया का कोई विशिष्ट आकार नही है। इसलिए वह साकार नहीं कही जा सकती है। जिसका आकार होता है उसी को साकार कहा जाता है। जिसके आकार का विनिश्चय नहीं किया जा सकता उसे साकार नहीं कहा जा सकता है। इसलिए माया साकार भी नहीं है।

प्रश्न 152. क्या माया निराकार है ?

उत्तर : माया निराकार भी नहीं है क्योकि वह समस्त मनुष्यों के आकार युक्त देह अर्थात् शरीर में प्रवेश कर जाती है तथा उन्हें भ्रमित कर देती है उसके आकार का विनिश्चय तो नही संभव है परन्तु उसके स्वरूप से इनकार भी नहीं किया जा सकता है। इस कारण माया न तो साकार है और न निराकार है। वह अद्‌भुत है।

प्रश्न 153. माया अद्‌भुत कैसे है ?

उत्तर : माया के कार्य का विषमयकारी स्वरूप उसे अदभुत बना देता है। वह इस प्रकार अव्यक्त रहकर प्रकट तथा व्यक्त की तरह से कार्य करती है। इस कारण माया अद्‌भुत है। वह शुभ कार्य करने वालों तथा अशुभ कार्य करने वालों और शुभाशुभ कर्म करने वालों को भी प्रभावित करती है। इसके अतिरिक्त शुभ अशुभ और शुभाशुभ कर्म कराती है। और इसके लिए प्रेरित करती है। इस कारण वह अद्‌भुत है।

प्रश्न 154. क्या माया अनिर्वचनीय है ?

उत्तर : हां, माया अनिर्वचनीय है क्योंकि कोई भी व्यक्ति परमात्मा की इस पराशक्ति माया की व्याख्या सम्पूर्णता से नहीं कर सकता है। क्योंकि व्याख्या करने वाला मनुष्य भी माया के प्रभाव से ही प्रभावित रहता है। जिसकी व्याख्या सम्पूर्णता से न हो सके अर्थात् जिसका वर्णन संभव न हो सके उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। इस कारण माया का सम्पूर्णता से

वर्णन संभव नहीं हो सकता। इसलिए उसे अनिर्वचनीय विशेषण से सम्बोधित किया जाता है।

प्रश्न 155. माया की क्रियाविधि को कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर : जब साधक में रज मिश्रित सत्व गुण समाप्त हो जाता है तब साधना की प्रबलता हो जाती है। परमात्मा का एक मात्र आश्रय ग्रहण करने की ओर साधक बढ़ता है तब उसे माया का प्रभाव अर्थात् कार्यरूप परिलक्षित होने लगता है परन्तु ऐसी स्थिति में भी साधक माया के प्रभाव से मुक्त नही हो सकता है। जैसे स्वप्नावस्था में मनुष्य सब कुछ देखता है तो जो कुछ भी देखता है उस कार्य को जागृत में परिवर्तित नहीं कर सकता है। उसी प्रकार माया के प्रभाव तथा कार्य रूप का उत्कृष्ट साधक दर्शन तो कर लेता है परन्तु उससे मुक्त नहीं हो सकता है। उत्कृष्ट साधक यह जानता है कि यह माया है। तथा यह माया का प्रभाव है परन्तु उसके प्रभाव से वहसर्वथा मुक्त नही हो पाता है। जैसे शरीर में हमें रोग का प्रभाव मालूम हो जाता है परन्तु बिना उचित उपचार के हम उस रोग से मुक्त नहीं हो पाते है। उसी प्रकार सत्व गुणी मनुष्य भी माया के प्रभाव को रोग की तरह जान जाता है परन्तु उससे मुक्त नहीं हो पाता है। क्रियाविधि को जानकर परमात्मा का एक मात्र आश्रय ग्रहण करने से माया के प्रभाव से मुक्त होना संभव है।

प्रश्न 156. माया के प्रभाव से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है ? अर्थात् उससे कैसे तरा जा सकता है ?

उत्तर : विषमयकारी त्रिगुणमयी माया से तरने का एक मात्र उपाय है परमात्मा की एक मात्र शरण ग्रहण कर लेना। जो लोग अर्थात् जो साधक एक मात्र परमात्मा के परम आश्रय में चले जाते है उन्हें त्रिगुणमयी माया तत्काल ही छोड़ देती है। जैसे हम किसी गर्म वस्तु को तत्काल छोड़ देते है और उसकों पकड़ने की इच्छा नहीं करते है। वैसे ही माया परमात्मा के आश्रय में चले जाने वाले मनुष्य को तत्काल छोड़ देती है और उसको पकड़ने की इच्छा भी नहीं करती है यदि हम परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर ले तो माया से निवृत्त हो सकते है। अन्यथा नहीं हो सकते है।

प्रश्न 157. माया से तरने का उसके पार जाने का परिणाम क्या है ?

उत्तर : जो साधक परमात्मा का पूर्ण आश्रय ग्रहण कर लेते हैं और माया के पार चले जाते हैं, उन्हें जन्म–मृत्यु से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वे इस दुखरूपी संसार में पुनः लौटकर नहीं आते, अर्थात मुक्त हो जाते हैं। यह संसार वस्तुतः दुखरूप ही है। इसमें

आदि से अंत तक दुख ही दुख विचार करने पर प्रतीत होते हैं। जन्म के समय मनुष्य को अतीव दुख होता है और जीवन पर्यंत नाना प्रकार के दुख रहते हैं। मृत्युकाल में भी असीम दुख होता है। इसलिए इस मानव जीवन का जो उद्देश्य माना जाता है वह जन्म–मरण से मुक्ति प्राप्त कर लेना माना जाता है, इसलिए जो माया से तर जाते हैं। वे परमात्मा की सानिध्यता में उनके लोक में निवास करते हैं।

प्रश्न 158. संपूर्ण जगत माया के प्रभाव से कैसे प्रभावित हो जाता है?

उत्तर : माया ने अपना त्रिगुणरूप जाल संपूर्ण संसार में बिखेर दिया है। इस कारण किसी को देवी–देवता की उपासना में किसी को समाजसेवा रूपी कर्म में आनंद का आभास होता है। अन्य किसी को धन संपत्ति, पद–प्रतिष्ठा आदि को एकत्र करने में लाभ प्रतीत होता है और आनंद का आभास होता है तथा किसी को दुष्कर्मों के संपादन में आनंद का आभास होता है। इसलिए ऐसे लोग मदिरा और मांस के सेवन में सुखी प्रतीत होते हैं। ये सब का सब मिथ्यानंद माया का ही कार्यरूप है। वस्तुतः यह सही नहीं है। जिस प्रकार गीले गुण में स्वाद लेने के चक्कर में मक्खी वहां बैठती है और वह गीले गुण के मीठेपन का आनंद लेती है परंतु वह नहीं जानती है कि उसके पैर उस गीले गुण के संपर्क में फंस चुके हैं, वह गुण में मिठास का आनंद प्राप्त करती है परंतु वह उड़ना चाहती है तो उसके पैर उसमें फंस जाते हैं और उड़ न पाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार माया के द्वारा अनेक प्रकार के संसारिक आकर्षण में मनुष्य को अच्छापन लगता है, आनंद का आभास होता है परंतु हम उसमें फंसकर अपना जीवन बर्बाद कर लेते हैं तथा जीवनपर्यंत संसारिक भोगों में फंसे रहते हैं और अंततः मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण जगत माया के प्रभाव से प्रभावित है और उसके प्रभाव से ही अनेक प्रकार की चेष्टाएं कर रहा है।

प्रश्न 159. माया के प्रभाव को उसके कार्यरूप को हम कैसे परख सकते हैं?

उत्तर : संसार में जितने भी आकर्षण हैं जिनसे हमें आनंद का मिथ्याभास हो जाता है और हमारी उनमें स्वतः तथा अनायास संलग्नता रहती है उनको माया का कार्यरूप तथा स्वरूप समझना चाहिए। समस्त इन्द्रिय विषय अर्थात् शब्द रूप रस, स्पर्श–गंध आदि में माया का कार्यरूप ही प्रकट होता है, प्रतीत होता है। झलकता है। इस कारण यदि हम उक्त इन्द्रिय विषयों के प्रति उदासीन हो जावें तो माया का प्रभाव समझ में आता है और जब तक हम उनमें डूबे रहते हैं तब तक हम माया के प्रभाव में रहते हैं तथा उसी के प्रभाव में कार्य करते हैं। जहां पर संसार में आकर्षण दिखाई पड़ता है अथवा दिखाई पड़े

जिसकी ओर हम अनायास ही प्रभावित हो जाएं, आकर्षित हो जाएं तो हमें ये समझना चाहिए कि यह माया का ही प्रतिरूप है तथा माया ही उस वस्तु, स्थिति के रूप में प्रकट हो रही है। जब भी हमें कहीं आकर्षण प्रतीत हो और हम उसकी ओर आकर्षित हो तो तत्काल ही हमें उससे अपने को विलग कर लेना चाहिए तथा यह समझना चाहिए कि माया हमें अपनी ओर आकर्षित कर रही है। ऐसा करने से हमें माया का प्रभाव और कार्यरूप समझ में आता है।

प्रश्न 160. इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : सुंदर तथा मधुर शब्दों में आकर्षण का न रहना, मनोहारी दृश्यों के प्रति आकर्षित न होना, सुस्वाद भोजन में आनंद का आभास न करना, कोमल स्पर्श की आकांक्षा न करना और प्राप्त होने पर उदासीनवत रहना तथा प्रत्येक प्रकार की गंध में आभास के प्रति उपेक्षित भाव रखना ही माया के प्रभाव को जानने का प्राथमिक कार्य है। यह कर्म परमात्मा की शरण ग्रहण कर लेने के उपरांत स्वतः ही होने लगता है। हम जब शब्द, रूप, रस, स्पर्श गंध के प्रति उ दासीन हो जाते हैं तो माया के प्रभाव को छोड़ने का प्रयास करते हैं परंतु माया हमें पुनः–पुनः अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करती है। हम उसके प्रयास में नहीं फंसते हैं तो यह समझना चाहिए कि हमें उसके प्रभाव का ज्ञान हो रहा है।

प्रश्न 161. इस दुस्तर माया से कौन तरता है?

उत्तर : इस प्रश्न के उत्तर के लिए ब्रह्मर्षि नारद द्वारा रचित नारद भक्ति सूत्र का निम्न सूत्र प्रस्तुत है।

कस्तरति कस्तरति मायाम्, यः संगांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति।।46।।

इस माया से कौन तरता है? कौन तरता है? ब्रहर्षि नारद ने इसके उत्तर में यह कहा कि जो 1– आशक्ति का परित्याग कर देता है। 2– महापुरुषों की सेवा करता है तथा ममता रहित हो जाता है। इस प्रकार ब्रहर्षि नारद ने माया से तरने के तीन उपायों का उल्लेख किया है। आशक्ति को त्यागना, संसारिक विषयों से उत्पन्न वेगों को शांत करना है। जब तक संसारिक आकर्षणों का त्याग नहीं होता तब तक माया से मुक्ति नहीं प्राप्त होती। इस कारण आशक्ति का त्याग अनिवार्य है। महापुरुषों की सेवा का अभिप्राय योग्य आचार्यों, गुरूओं, तत्वदर्शी महापुरुषों की सेवा से है। क्योंकि यही महापुरुष हैं जो हमें माया से तरने के उपाय बतलाते हैं। ममता रहित होने का अभिप्राय यह है कि समस्त प्रकार के मोह से विमुक्त हो जाना। संसारिक आशक्ति का त्याग ममता का त्याग स्वयं भी

हो सकता है तथा गुरुओं के निर्देश और उनकी कृपा से भी हो सकता है। इसलिए ब्रहर्षि नारद द्वारा माया से तरने का जो उपाय बताया गया है। वह विशिष्ट है।

प्रश्न 161. गुरु कैसा होना चाहिए? जो माया से मुक्ति का उपाय बता सके।

उत्तर : गुरू के तीन प्रमुख गुण होते हैं। 1– गुरू को शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए जिससे वह शास्त्रों की सम्यक व्याख्या कर सके। 2– संशय का निवारण करने में समर्थ हो ताकि वह शिष्य के समस्त संशयों का निवारण कर सके। 3–तत्वदर्शी हो ताकि वह तत्वदर्शन के प्रयोगात्मक स्वरूप की व्याख्या कर सके और उधर संकेत कर सके। इन तीनों गुणों से युक्त मनुष्य गुरू की योग्यता रखता है और यदि वह ब्राह्मण हो तो इसे और भी उत्कृष्ट समझना चाहिए।

प्रश्न 162. ब्राह्मण किसे कहते हैं? क्या ब्राह्मणों को मानने का आधार उनका जन्म है?

उत्तर : ब्राह्मण का निर्धारण उनके जन्म से ही होता है अर्थात यदि मनुष्य ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न होता है तो उसे ब्राह्मण ही मानना चाहिए और ब्राह्मणों की सेवा करना प्रत्येक वर्ण का कर्तव्य है परंतु ब्राह्मण में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं जो उसे ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं। उन विशिष्ट गुणों का उल्लेख शास्त्रों में आता है।

प्रश्न 163. ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण क्या हैं?

उत्तर : श्रीगीता जी में ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुणों का निरुपण करते हुए श्रीभगवान ने निम्न तथ्य कहा है तथा उनके स्वाभाविक गुणों का निरुपण भी किया है। श्रीभगवान के–

शब्दों के आधार पर ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुणों का वर्णन किया जा रहा है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।42।।

भावार्थः शम, दम, तप, शौच, समाभाव, मन और इन्द्रियों की सरलता, आस्तिक भाव, ज्ञान और विज्ञान ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।

प्रश्न 164. शम किसे कहते हैं?

उत्तर : चंचल मन को नियंत्रित रखना ही शम कहा जाता है। मन स्वाभावतः चंचल होता है। ब्राम्हण स्वाभावतः इस चंचलशील मन को स्वाभाव से नियंत्रित करने का प्रयास करता है और इसे नियंत्रित रखता भी है।

प्रश्न 165. दम किसे कहते हैं?

उत्तर : मनुष्य का मन स्वाभाविक रूप से इन्द्रिय विषयों की ओर आसक्त रहता है। इन्द्रिय विषयों से मन को हटाना और उसे हटाकर इष्ट की ओर लगाना ये दम कहा जाता है। सामान्य व्यक्ति इन्द्रिय विषयों का दास होता है। ब्राम्हण नहीं होता है। यह उसका स्वाभाविक गुण है।

प्रश्न 166. तप किसे कहते हैं?

उत्तर : तप तीन प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात तीन प्रकार के तपों का उल्लेख शास्त्रों का आता है जिसे शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तप कहा जाता है। अपने से श्रेष्ठजनों की सेवा, उपासना पूजा आदि करना शारीरिक तप है। किसी को उदग्नि न करने वाले वचनों को न बोलना वाचिक तप है तथा प्रत्येक काल में परमात्मा का स्मरण करके प्रसन्न रहना मानसिक तप कहलाता है। इस प्रकार तप ब्राम्हण का स्वाभाविक गुण होता है। इसलिए वह अपने से श्रेष्ठ पुरुषों का सम्मान करता है। मृदुभाषी होता है तथा इस कारण वह प्रसन्न रहता है।

प्रश्न 167. क्षमाभाव किसे कहते हैं?

उत्तर : जो अपने शत्रु तथा अहित करने वाले के प्रति भी कोई प्रतिकार का भाव नहीं रखता तथा उनक अहित नहीं चाहता, इसी भाव को क्षमा कहा जाता है। यह भी ब्राम्हण का स्वाभाविक गुण होता है कि वह अपने अहित करने वालों को भी अभयदान देता है।

प्रश्न 168. शौच किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्नानादि से स्थूल शरीर को स्वच्छ रखना तथा मन में किसी के प्रति कोई अहितकर विचार न करना ही शौच कहा जाता है। यह शौच दो प्रकार का होता है जिसे बाह्य तथा आंतरिक शौच कहते हैं। बाह्य शौच में शरीर की शुद्धि मानी जाती है और आंतरिक शौच में मन की शुद्धि मानी जाती है। शौच भी ब्राम्हण का स्वाभाविक गुण होता है।

प्रश्न 169. आर्जवम् किसे कहते हैं?

उत्तर : मन से जो भी विचारण होता है वह सबके कल्याण के लिए हो सभी के हित के लिए हो स्वार्थपरक न हो इस तथ्य का यदि उच्चारण वाणी से होता है तो वह

सरलतापूर्वक होता है। सहजभाव से होता है। सभी के प्रति सहजभाव रखना आर्जवम् कहा जाता है। यह भी ब्राम्हण का स्वाभाविक गुण माना जाता है।

प्रश्न 170. ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर : वैदिक सनातन धर्म में अनेक प्रकार के शास्त्र हैं जिनमें पवित्र वेद दार्शनिक ग्रंथ, इतिहास पुराण आदि–आदि आते हैं। इन सभी का स्वाध्याय करना तथा शास्त्रों के तत्व का ज्ञान रखना ही ज्ञान कहा जाता है। परमात्मा की अनुभूति के साधन तथा प्रक्रिया का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जिसे प्राप्त करना ब्राम्हण का स्वाभाविक धर्म है।

प्रश्न 171. विज्ञान क्या है?

उत्तर : परमात्मा के साक्षात्कार के उपायों तथा साधनों के ज्ञान को ही विज्ञान कहा जाता है। ब्राह्मण भले ही तत्वदर्शी पुरूष न हो परन्तु उसे परमात्मा के साक्षात्कार के उपायों का सैद्धान्ति ज्ञान होता है। यह ब्राम्हण का स्वाभाविक गुण है।

प्रश्न 172. आस्तिक भाव क्या है ?

उत्तर : परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना तथा उसका संशय रहित निर्धारण ही आस्तिक भाव कहलाता है। ब्राम्हण एक तो परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है तो दूसरे उसमें यह दृढ़ भाव रहता है कि परमात्मा इस जगत की व्यवस्था को संभाले हुए है उसके आदेश से ही समस्त कर्मो के फल का उदय हो जाता है। वह एक परमात्मा नित्य निरन्तर हमारे हृदय में रहकर हमारे कर्मो का यथावत् निरीक्षण करता है। इसी को आस्तिक भाव कहते है। यह भी ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण होता है।

प्रश्न 173. ब्राम्हण क्या अपने ब्राम्हणत्व से गिर सकता है ?

उत्तर : यदि किसी ब्राह्मण ने अपने स्वाभाविक गुणों को खो दिया है अर्थात् उनका पालन नहीं कर रहा है तो वह अपने ब्राम्हणवत्व से नीचे गिर जाता है। जैसे पुरूषों में पुरूषत्व, स्त्रियों में स्त्रितत्व, देवताओं में देवत्व होता है वैसे ब्राम्हणों में ब्राम्हणत्व का गुण स्वाभाविक रूप से होता है। जब ब्राम्हण अपने स्वाभाविक गुणों को खो देता है तो वह ब्राम्हणत्व को भी खो देता है। जैसे स्वर्ण गंदे स्थान पर पड़ा हो तो वह ताज्य होता है। इसलिए ब्राम्हणों को अपने स्वाभाविक गुणों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

प्रश्न 174. तीन गुणों से युक्त गुरू न मिले तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर : जब तक योग्य गुरू न मिले तब तक परमात्मा को ही योग गुरू मानना चाहिए। ऐसा मानने से परमात्मा हमारे लिए योग्य गुरू की व्यवस्था स्वतः ही कर देते है। ऐसे संयोगों का उर्पाजन कर देते है जिससे हमें योग गुरू मिल जाता है। अनेक संत महानुभाव ही गुरू होने की योग्यता रखते है। गुरू ऐसा होना चाहिए जो हमारे संशय का विनाश कर दे तथा हमें अध्यात्म के प्रकाश में ले आवे और तत्वदर्शन का उपदेश दे। ऐसे गुरू दयालु और कृपालु होते है तथा वह कृपा करके हमारे कल्याण का मार्ग स्वतः ही प्रशस्त कर देते है। वर्तमान में भी अनेक साधु संत है जो गुरू होने की योग्यता रखते है। हमें उनकी शरण में जाना चाहिए।

प्रश्न 175. पंडित किसे कहते है ?

उत्तर : जो मनुष्य कामना और संकल्प का परित्याग कर देता है तथा जिसने सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि में भस्म कर दिए है। उसे ज्ञानी जन्य भी पंडित कहते है। इस कारण पंडित वर्ण विशेष नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं का त्याग कर दे तथा सांसारिक उद्देश्य के संकल्प को भी समाप्त कर दे तथा कामना न रखकर कर्मो का सम्पादन करें ऐसा मनुष्य पंडित हो जाता है। पंडित मनुष्य के कर्म कामना की भावना से रहित हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति किसी वर्ण आश्रम के व्यक्ति की हो सकती है। इस कारण पंडित जन्य वही है जो कामना और संकल्प रहित हो उसे निश्चित ही हमें पंडित मानना चाहिए।

प्रश्न 176. वर्तमान में कई संस्थाएं लोगों को सहजता से तत्व दर्शन करा रही है ? क्या तत्वदर्शी होना बहुत सहज है ?

उत्तर : आद्य शंकराचार्य जी ने यह कहा था कि जब तक जल गंदा रहता है तब तक उसमें स्वच्छता का अभाव रहता है। जब उसमें घुले हुए अपविष्ट अर्थात् गंदगी पदार्थ नीचे बैठ जाते है तो जल स्वच्छ प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में राग, द्वेष, अहंकार, ईर्ष्या, स्पर्हा, तृष्णा, दम्भ, लोभ, मोह, क्रोध, द्रोह, अक्षमा, संशय, प्रमाद आदि दोष रहते हैं तब तक तत्वदर्शन की आशा करना व्यर्थ है। अनेक मनीषियों का मत है कि हमें अपने विस्मृत स्वरूप की स्मृति होने पर तत्व दर्शन हो जाता है। यह स्थिति अर्थात् स्मृति की प्राप्ति सहजता से प्राप्त नहीं की जा सकती है। जैसे कोई भूली हुई वस्तु हमें स्मरण में आ जाती है वैसे ही वास्तविक स्वरूप का स्मरण करते ही स्मरण हो जाता है। यही तत्व दर्शन है। परन्तु यह स्मृति प्रकट होना, आना, विस्मृति का समापन होना इतना सहज नहीं है जैसा कि कुछ महानुभाव और संस्थाएं कहते है। तत्व दर्शी होना बहुत ही सहज है तथा

अत्यंत दुष्तर भी है। इस कारण जो महानुभाव और संस्थाएं तत्वदर्शन सहजता से करा रही है वे साधकों को भ्रमित कर रही है। वे स्वयं भी भ्रमित है और अन्य लोगों श्रद्धालुओं को भी भ्रमित कर रहे है उन्हें ऐसे कुकृत्यों का तत्काल ही समापन करना चाहिए तथा भोले भाले श्रद्धालुओं को उनसे अपने को पृथक रखना चाहिए। भगवान शंकराचार्य का इस सम्बंध में एक कथन उद्धृत किया जा रहा है–

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्, कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।

आत्मैक्यबोधेन बिना विमुक्ति, र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि।

कोई मनुष्य शास्त्रों की व्याख्या करने में सक्षम हो, अनेक देवी देवताओं का यजन पूजन करें और नाना प्रकार के शुभ कर्म भी करें तथा देवताओं को भजे परन्तु ब्रह्म और आत्मा की एकता का जब तक बोध नहीं होता तब तक सौ ब्रम्हाओं के बीत जाने पर भी मुक्ति संभव नहीं है।

भगवान शंकराचार्य के इस कथन से मुक्ति की दुर्लभता को सहज भाव से आप समझ सकते है।

प्रश्न 177. ऐसी संस्थाओं ने अनेक तत्वदर्शी बना दिए है क्या वे तत्वदर्शी नहीं है?

उत्तर : तत्वदर्शी मनुष्य मे विशिष्ट गुणों का प्रार्दुभाव हो जाता है तथा वे स्वतः ही तत्वदर्शी प्रतीत होते है। उनका आन्तरिक भाव तथा बाह्य व्यवहार भी विशिष्ट गुणों वाला होता है और वे समाज से पृथक प्रतीत होते है। इस प्रकार किसी भी पुरूष के बाह्य आचरण और आन्तरिक भावों को देखकर ही तत्वदर्शी होने का अनुमान और विनिश्चय किया जाता है। उसके लिए विशिष्ट दृष्टि की आवश्यकता भी होती है। तत्वदर्शी महापुरूष के विशिष्ट गुणों का अवलोकन कीजिए–

(एक) सम्मान किये जाने पर प्रसन्नता का आभास नहीं करता है और अपमानित किये जाने पर दुःख के आभास से पृथक रहता है।

(दो) अनुकूलताओं में सुख का आभास नहीं करता है और उसे अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं में दुःख की प्रतीती नहीं होती है।

(तीन) बुद्धि समस्त सांसारिक विषयों से पृथक हो जाती है। इस कारण उसमें विशिष्ट शान्ति का प्रार्दुभाव हो जाता है।

(चार) सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति ममता के भाव का अभाव रहता है। अर्थात् वह किसी भी सांसारिक वस्तु अथवा व्यक्ति के मोह में नहीं फंसता है।

(पांच) विपुल सम्पदा, ख्याति, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, पद आदि प्राप्त होने पर भी उसमें अहंकार पूरी तरह से अभाव पाया जाता है।

(छः) तत्वदर्शी पुरूष का चित्त अविकारी हो जाता है तथा संसार के विषयों के चिंतन से उसका चित्त विमुक्त रहता है ?

(सात) भूतकाल की घटनाओं का, भोगों का संसर्ग तथा संयोग का वह स्मरण नहीं करता है और इस प्रकार स्मृति रूपी दोष से पृथक् हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसकी स्वस्वरूप में स्थिति रहती है।

(आठ) वर्तमान में शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध का संयोग होने पर भी उनके प्रति उदासीन व्यवहार करता है। इस प्रकार ईष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में उसमें सम्भाव रहता है।

(नौ) तत्वदर्शी पुरूष अहंकार से विगत हो जाने के कारण ही अपने स्वरूप में नित्य निरंतर स्थित रहता है। अहंकार से निवृत्ति हो जाने की स्थिति उसके वाणी से प्रकृट होती है और व्यवहार में दर्शित होती है।

(दस) बालक के समान निर्मल मन वाला तथा किसी प्रकार की चिंता से मुक्त निद्रा से युक्त प्रतीत होता है। यही तत्वदर्शी पुरूष का लक्षण है।

(ग्यारह) विषयों का संयोग कतिपय कारणों से हो भी जाए तो उसमें प्रसन्नता का आभास नहीं करता है तथा उससे मुक्त रहता है। विषय विकार रहित रहते है।

(बारह) समस्त प्रकार की कामनाओं के परित्याग से स्वयं से स्वयं में प्रसन्न रहने से तत्वदर्शी मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

(तेरह) सांसारिक विषय भोगों से प्राप्त आनन्द को तुच्छ समझ कर परमानन्द में निमग्न और समाहित रहना तत्वदर्शी पुरूष का विशेष लक्षण है।

(चौदह) सांसारिक चेष्टाओं, गतिविधियों में प्रपंचों को भूल जाना इसका विशेष लक्षण है इसलिए उसमें सांसारिक चेष्टाओं का अभाव हो जाता है।

(पंद्रह) समस्त प्रकार के दैनिक सांसारिक, सामाजिक, व्यवहार को प्राप्त करके उन सभी को स्वप्न के समान समझता है।

(सोलह) तत्वदर्शी पुरूष ममता रहित, अहंकार रहित स्पृहा रहित होता है तथा उसकी स्थिति कामनाओं से विगत हो जाती है।

उपरोक्त लक्षण जिस किसी महापुरूष में प्रतीत हो तो उसे तत्वदर्शी पुरूष मानना चाहिए।

प्रश्न 178. तत्वदर्शी बनने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए ?

उत्तर : तत्वदर्शी बनने के लिए संयमित जीवन की बड़ी आवश्यकता होती है। आप किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय तथा मत मतान्तर से सम्बंधित व्यक्ति है तो भी आपको सबसे पहले यह देखना चाहिए कि हम जो भी कर्म कर रहे है वे शास्त्र सम्मत है अथवा नहीं है। अधिकांशतः यह होता है कि हम मनमाने ढंग से कर्म करने लगते है। हम जो भी चाहते है वैसा ही करते है। इससे स्वेच्छाचारी अर्थात् मनमाना आचरण कहा जाता है। हम अपने कर्म में यह अवश्य देखे कि किसी का उस कर्म से अहित तो नही हो रहा है तथा किसी के अधिकार का हनन तो नहीं हो रहा है किसी का अहित तथा अधिकारों का हनन प्रतीत हो तो उस कर्म को तत्काल समाप्त कर दे अर्थात् बंद कर दें। दूसरे किसी अन्य व्यक्ति से कोई अपेक्षा न करें। कोई हमें सुख प्रदान करेगा ऐसा विचार मन से त्याग दें। हम जब दूसरों से अपेक्षा करते है तो वह अपेक्षा पूरी न होने पर हमें कष्ट का आभास होता है। हम जब अपेक्षा रहित रहेगे तो हमें कभी भी कष्ट का आभास नहीं होगा। इसके अतिरिक्त हमें अपने कर्मो में फलेच्छा का त्याग अवश्य रखना चाहिए। हम शास्त्र सम्यक् कर्म करेंगे तो उसका फल हमें अवश्य प्राप्त होगा। यह परमात्मा निश्चित व्यवस्था है जो अत्यंत पारदर्शी है फल की इच्छा से फल प्राप्त नहीं होता है वरन् कर्म से स्वतः ही फल प्राप्त हो जाता है। इसमें फल की इच्छा नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार हम शास्त्र सम्मत कर्म करे किसी का अहित न करें और ऐसा कर्म कदापि न करें जिससे दूसरों के अधिकारों का हनन हों। अपेक्षा रहित रहे और फल के त्याग पर दृष्टि रखकर कर्म करें। उसके साथ ही परमात्मा के परम आश्रय में जाकर उसका निरन्तर चिंतन तथा मनन करें। इस प्रकार हम तत्व दर्शी हो सकते है और हमें परमात्मा की अनुभूति हो सकती है।

प्रश्न 179. आजकल लोग शास्त्रों तथा परमात्मा की उपेक्षा कर रहे है इसका क्या कारण है ?

उत्तर : जगत में बहुत आकर्षण है। माया ने जगत में असंख्य आकर्षक वस्तुएं उत्पन्न कर दी है। जिसके कारण मनुष्य मायिक आकर्षण में फंसा हुआ है और ऐसा व्यक्ति शास्त्रों

और परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं होता है। इसलिए शास्त्रों और परमात्मा की उपेक्षा कर रहा है। आज का मनुष्य समस्त इन्द्रिय विषयों में फंसकर रह गया है। उसे संसार में धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य के संकलन में रूचि हो रही है और उसी के लिए जीवन पर्यन्त कर्म भी कर रहा है। संसार में जो आपाधापी है, चेष्टा है, गति है वह सबकी सब संसारोन्मुखी हो गई है जिसका परिणाम दुःख, पतन, और विनाश है। हम जीवन भर में जो कुछ कर पाते है, कमा पाते है एकत्र कर पाते है, वह सबका सब छूट जाता है। परन्तु फिर भी सांसारिक आकर्षण में फंसा हुआ व्यक्ति शास्त्रों तथा परमात्मा की उपेक्षा कर रहा है। ऐसे लोगों का निश्चय ही पतन हो जाएगा।

प्रश्न 180. शास्त्रों तथा परमात्मा को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : मनुष्य जीवन अर्थात् मनुष्य योनि बहुत ही दुर्लभ है। आप अपने आस पास अनेक कीट पशु पक्षी आदि देखते है। वे भी एक प्रकार की योनि है परन्तु जैसा सुख तथा विचार करने का अधिकार परमात्मा ने हमें दिया है वैसा अन्य योनियों में नहीं है। इस कारण मनुष्य योनि श्रेष्ठ योनि मानी जाती है। हम मनुष्य योनि में रहकर अपनी आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक उन्नति भी कर सकते है परन्तु जो भी उन्नति है वह शास्त्र सम्मत होने से इस लोक और परलोक में काम आती है जो अशास्त्र सम्मत है वह इस लोक में अपकीर्ति का कारण बनती है तथा परलोक में भी हमारे लिए कष्टदायी होती है। हम मृत्यु के पश्चात् कहा जायेंगे ? और जन्म के पूर्व कहा थे यह तथ्य हम नहीं जानते है। इस कारण हमें परमात्मा को स्वीकार करना पड़ता है। हम अपनी वृद्धावस्था तथा मृत्यु को रोक नहीं पाते है। इस कारण भी शास्त्रों के कथन को तथा परमात्मा के अस्तित्व को हमें स्वीकार करना पड़ता है।

प्रश्न 181. परमात्मा के असितत्व को न मानने से हानि क्या है ?

उत्तर : परमात्मा के असित्तव को न मानने का कार्य वैसा ही है जैसा हम अपने माता पिता को न माने तथा अपने को स्वतः ही उत्पन्न हुआ मान ले। उस परमात्मा की ही व्यवस्था सर्वत्र चल रही है तथा व्यक्त हो रही है। वह सब जीवों को चराचर जगत को उत्पन्न करता है उनका पालन पोषण करता है इसी को स्थिति बनाये रखना कहा जाता है। सूर्य चन्द्र, उसके आदेश से समय से निकलते है वायु चलती है, जल बरसता है यह सब उसकी दृष्टि तथा आदेश का परिणाम है। हमें इन सब के कारण ही परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। हम यदि उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है तो मनमाना आचरण करने लगते है और अनियंत्रित तथा असंयमित होकर कार्य करते है।

अनियंत्रित वाहन की तरह से हम ऐसी स्थिति में निश्चित ही नष्ट भ्रष्ट हो जाते है। वैसी ही हमारी दुर्गति होती है। जैसी एक अनियंत्रित वाहन की होती है। इस कारण हमें परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने से बहुत हानियां होती है। उसके अस्तित्व को स्वीकार न करने से हम अपने ही अस्तित्व को खतरे में डाल लेते है। इस कारण हमें उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न 182. शास्त्र तो बहुत है इस कारण एक शास्त्र का नाम बताए जिससे पर्याप्त आध्यात्मिक लाभ हो तथा मनुष्य अपने जीवन के परम पुरूषार्थ को सहजता से प्राप्त कर लें ?

उत्तर : श्रीमद् भगवद्गीता ! यह भगवान की साक्षात् वाणी है। इसमें वेदों के अंतिम भाग तथा ज्ञानकाण्ड, उपनिषदों, दार्शनिक ग्रंथों का और ऋषि महर्षियों द्वारा रचित स्मृति ग्रंथों और संहिताओं का सार संग्रहित कर दिया गया है। श्री भगवान ने इसके प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक श्लोक में विशिष्ट तथ्यों का समावेश किया है। इसके अध्ययन पाठ, अर्थ सहित अध्ययन करने से शीघ्र ही लाभ होता है तथा संशय की तत्काल निवृत्ति हो जाती है। तत्व दर्शन से संशय की निवृत्ति होती है ऐसा श्री गीता जी के ज्ञान का उद्देश्य है। हमें श्रीगीता जी के ज्ञान का अध्ययन अपने मत को दृष्टि में रखकर नहीं करना चाहिए। वरन् जैसा उसमें वर्णित है वैसा समझ कर करना चाहिए। क्योंकि भगवद्गीता किसी मत और पंत का ग्रंथ नहीं है। यह मानव समाज के लिए अवतरित हुआ ग्रंथ है। इसमें अथाह ज्ञान का सागर भरा हुआ है। इसे मनुष्य ग्रहण करके मुक्त हो सकता है।

प्रश्न 183. आध्यात्मिक संशय क्या है और इससे कैसे निवृत्ति होती है ?

उत्तर : जब साधक साधना पथ की ओर चलने को उन्मुख होता है तो उसे सिद्धान्त, प्रक्रिया के सम्बंध में संशय प्रकट होना अनिवार्य है। गुरू भी इन संशयों से साधक को निवृत्त कर सकता है तथा भगवद्गीता का निरन्तर अभ्यास करने से भी समस्त प्रकार के संशयों से निवृत्ति हो जाती है तथा सम्यक् सिद्धान्त और प्रक्रिया का उचित एवं स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। साधन के जो भी संशय होते है वह परमात्मा की शरणागति से शीघ्र ही विनिष्ट हो जाते है। यदि साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है कि उत्पन्न संशयों का विनाश करें तो परमात्मा ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश अंतःकरण में प्रज्जवलित कर देता है। इसी प्रकार समस्त आध्यात्मिक संशयों की निवृत्ति परमात्मा के परम आश्रय से शीघ्र हो जाती है।

प्रश्न 184. अध्यात्मिक मार्ग में संशयों की निवृत्ति आवश्यक क्यों है ?

उत्तर : संशयग्रस्त मनुष्य अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं कर सकता जैसे हम कहीं जाते है तो यदि हमें मार्ग अर्थात् पथ के बारे में संशय हो तो हम अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुंच सकते है। इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में जब मनुष्य में संशय प्रकट हो जाते है तो मनुष्य छिन्न भिन्न हो जाता है। इसी बीच सांसारिक विषय का तथा कार्य का संशय हो जाने पर उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार संशय रहने पर मार्ग, साधन क्रिया, क्रियान्वयन के प्रकार में तथा सिद्धान्त में संदेह हो जाने पर अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए संशय का परित्याग करना आवश्यक है।

प्रश्न 185. अध्यात्मिक पथ में संशय क्या है ?

उत्तर : अध्यात्मिक पथ में **कुछ संशय विशेष होते है :–**

1– परमात्मा की सत्ता के विषय में संशय हो जाना।

2– परमात्मा के अस्तित्व के बारे में संशय का प्रकट हो जाना।

3– परमात्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ? इस विषय में संशय प्रकट होना।

4– परमात्मा की उपासना के फल की सम्यक् उपलब्धि न होने पर साधना की स्थिति का संशय उत्पन्न होना।

5– अनुभूति के साधन में अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के उपाय के सम्बंध में संशय का प्रकट होना।

.6– परमात्मा की अनुभूति की क्रिया के निष्पादन के सम्बंध में संशय का प्रकट होना।

7– उचित फल प्राप्त न होने पर क्रियाओं का उचित न मानना।

आदि आदि संशय आध्यात्मिक पथ पर प्रकट हो जाते है।

प्रश्न 186. इन अध्यात्मिक संशयों की निवृत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : इन समस्त प्रकार के संशयों की निवृत्ति साधक स्वयं अथवा योग गुरू के द्वारा प्राप्त निर्देशों से करनी पड़ती है। परमात्मा है उसकी निश्चित सत्ता है इस तथ्य को दृढ़तापूर्वक हमें स्वीकार करना चाहिए। वह इस ब्रम्हांड का रचनाकार है तथा उसने अपनी सत्ता को समग्र ब्रम्हांड में स्थापित कर रखा है। वह इस जगत का नियंत्रण करता है और

दूसरे वह हमारे हृदय में विद्यमान है। ऐसा अनुभव करना तथा दृढ़तापूर्वक परमात्मा के नाम का जप करना और उसके स्वरूप का चिंतन करना अनेक प्रकार की संशयों से निवृत्ति का साधन है। इसी प्रकार साधन का उचित फल न प्राप्त होने पर हमें धैर्य पूर्वक अपनी साधना को करते रहना चाहिए। परमात्मा हमारे साथ है वह हमारी प्रत्येक प्रार्थना को स्वीकार कर रहा है। ऐसा भाव प्रबल रखना चाहिए। उस सर्वत्र व्याप्त परमात्मा का आश्रय पकड़ लेने से समस्त प्रकार के संशयों का विनाश स्वतः ही हो जाता है। भगवद्गीता का अर्थ सहित पाठ करने पर उसके अर्थो पर विचार करने पर भी बहुत प्रकार के संशयों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

प्रश्न 187. मनुष्य के दुःखों का कारण क्या है ?

उत्तर : इन्द्रियों के विषयों में अच्छापन लगना और इस अच्छेपन के लगने से मनुष्य उनका भोक्ता बनना चाहता है। यह भोक्तापन का भाव जब प्रकट होता है तब वह क्रियान्वित करने की इच्छा प्रकट करता है। चूंकि विषयों का आदि अन्त नही है। इस कारण यह भोग ही मनुष्य के दुःखों का मूल कारण है। मनुष्य को इन्द्रिय भोगों में कभी भी रमना नहीं चाहिए। बुद्धि मन और इन्द्रियां जब भोगों में रम जाती है तब यह क्रिया रजोगुण की प्रधानता से होती है और इसी का परिणाम दुःख के रूप में हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है।

प्रश्न 188. मनुष्य को सुख कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर : जो बुद्धिमान मनुष्य सांसारिक कामनाओं तथा क्रोध के वेग को रोक लेता है वह मनुष्य सुखी हो जाता है। जब तक मनुष्य में कामनाएं रहती है तब तक क्रोध भी रहता है। कामनाओं के त्याग से क्रोध की निवृत्ति हो सकती है। इस कारण मनुष्य को यदि कामना से मुक्ति मिल जाए तो क्रोध से भी मुक्ति मिल जाती है और ऐसी स्थिति में उसे सुख का आभास होने लगता है। इसके प्रतिकूल कामना और क्रोध रहने पर निश्चित रूप से दुःख का संयोग और आभास होता है ?

प्रश्न 189. मनुष्य का जीवन अल्पायु कैसे हो जाता है ?

उत्तर : जब मनुष्य तमोगुण के प्रभाव से अनेक प्रकार के असामाजिक अंवैधानिक और अनैतिक कर्मो का सम्पादन करता है अर्थात् दुष्कर्मो की ओर प्रवृत्त हो जाता है तो परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार उसकी निश्चित और पूर्व निर्धारित आयु समाप्त कर दी

जाती है और वह अपने मृत्यु के पूर्व ही इस संसार से विदा लेता है। इसलिए मनुष्य को कभी भी दुष्कर्मो का आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न 190. मनुष्य का जीवन दीर्घायु कैसे होता है ?

उत्तर : प्रकृति निरन्तर गतिशील है और यह हमारे शरीर पर प्रभाव डालती है। इस कारण मनुष्य बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था से होता हुआ वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। इसमें शीघ्रता रहती है। तप रहती है जब हम संसार में रमते है। इसके प्रतिकूल जब हम परमात्मा के नाम का जप तथा स्वरूप के चिंतन में रमते है तब प्रकृति का प्रभाव साधक पर बहुत कम रहता है। वृद्धावस्था प्रकृति का कार्यरूप है। इसलिए परमात्मा की शरण में जाने पर प्रकृति अपना पूरा प्रभाव मनुष्य पर नहीं डाल पाती है। ऐसे परमआश्रय में पहुंचे मनुष्य का जीवन दीर्घ हो जाता है। उसके प्रतिकूल संसार के आश्रय में रहने वाले मनुष्य का जीवन अल्पकालिक होता है।

प्रश्न 191. मनुष्य का पारिवारिक जीवन कैसा होना चाहिए ?

उत्तर : मनुष्य को शास्त्र सम्मत कर्मो का विनिश्चय करके कर्मो का सम्पादन करना चाहिए तथा श्रम से धन का उर्पाजन करके पारिवारिक सदस्यों को भी शास्त्रों की शिक्षा के साथ व्यवसायिक शिक्षा देनी चाहिए। परिवार में बड़ों का सम्मान करना तथा श्रेष्ठ जनों का यथायोग्य पालन और सत्कार व सेवा करनी चाहिए। मनुष्य को परिवार के अन्य सदस्यों से अपेक्षा का त्याग रखना चाहिए, तभी मनुष्य पारिवारिक जीवन में सुखी रहता है।

प्रश्न 192. मनुष्य का सामाजिक जीवन कैसा होना चाहिए ?

उत्तर : प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने कर्मो की समीक्षा अवश्य करें तथा समाज में क्या हो रहा है ? इसकी समीक्षा न करें। हो सके अर्थात् जहां तक संभव हो नैतिक उत्थान के कार्यक्रम चलावे। हमें सबसे पहले अपने में उपस्थित दुर्गुणों को समाप्त करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यदि अपने में उपलब्ध दुर्गुणों को समाप्त कर दे तो समाज का सुधार स्वतः ही हो जाएगा। आजकल हम स्वयं को नहीं सुधारते है वरन् दूसरों को सुधरने की शिक्षा देते है तथा दूसरों के दोष ढूढ़कर उनकी बुराई करते है। यह स्थिति समाज के लिए घातक है। हमें अपने दोषों को पहले समाप्त करना चाहिए तत्पश्चात् समाज के नैतिक उत्थान का प्रयास करना चाहिए। एक दूसरे की बुराईयों की व्याख्या में समाज का न तो हित हो सकता है और न ही मनुष्य का हित हो सकता है।

प्रश्न 193. मनुष्य के कल्याण का मार्ग क्या है ?

उत्तर : जब मनुष्य माता के गर्भ में होता है तो उसका सिर नीचे होता है और पैर ऊपर होते है। अर्थात् माता के गर्भ में वह उल्टा रहता है। उसकी स्थिति मलमूत्र के पात्र में रहने की स्थिति रहती है। माता के शरीर का तापमान तथा छोटे–छोटे कीड़े उसे बहुत परेशान करते है। उस स्थिति में उसे परमात्मा का दर्शन होता रहता है। ऐसी स्थिति में जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हमें इस प्रतिकूल और विषम स्थिति से निकाल लें। पुनः पुनः प्रार्थना करने से परमात्मा की कृपा से मनुष्य का जन्म होता है। ऐसा शास्त्रों में वर्णन आता है। जीव माता के गर्भ में प्रार्थना करता है कि हम आपका स्मरण करेंगे। नित्य निरन्तर स्मरण करेंगे कभी भूलेंगे नही परन्तु आज आप किसी भी स्थिति में क्या आपने अपने द्वारा की गई प्रतिज्ञा का पालन किया है ? संभवतः इस प्रश्न का उत्तर आपके पास नकारात्मक ही होगा। इस कारण इस प्रश्न के उत्तर के पहले सकारात्मक कार्य करना है। हमें जितना अधिक से अधिक बन पडे परमात्मा का स्मरण करना है। हम जिन कारणों से जिन समस्याओं के कारण परमात्मा का स्मरण नहीं कर पा रहे है वे कारण स्वतः ही निवारित हो जायेंगे। हमें परमात्मा का स्मरण अधिक से अधिक करना चाहिए। नित्य करना चाहिए। यह परम कल्याण का एक प्रमुख साधन है। इसी में हम सभी का कल्याण हो सकेंगा।

प्रश्न 194. परमात्मा के स्मरण के अतिरिक्त कल्याण का क्या मार्ग है ?

उत्तर : हम पूरा प्रयास करें कि किसी का हमारे द्वारा अहित न हों। यह तभी संभव है जब हम किसी के अहित के बारे में विचार करना छोड़ दें। हमें किसी के अहित का विचार नही करना चाहिए। वरन् प्रत्येक के हित पर विचार करना चाहिए। हम जब किसी के अहित के बारे में विचार करते है तो हम अपना स्वयं का अहित कर लेते है। दूसरों के अहित करने वाले कर्म हमें परिणाम में अहितकर फल स्वतः उत्पन्न करते है। शास्त्र संगत कर्म करना और दूसरों को नैतिक उत्थान के लिए कर्म करना तथा धन सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य प्राप्ति में आशक्त न होना। हिंसादि कर्मो से दूर रहना। दुष्कर्म अनैतिक कर्मो का अनुकरण न करना ही मानव के लिए उचित हितकर तथा कल्याणकारी कार्य है।

प्रश्न 195. मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त क्या गति होती है ?

उत्तर : मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त क्या गति होती है यह अव्यक्त प्रश्न हैं अर्थात् इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें शास्त्रों के कथन पर आधारित रहना पड़ता है। मृत्यु के पश्चात्

की स्थिति के सम्बंध में शास्त्रों में स्पष्ट रूप से वर्णन आता है सत्व गुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर मनुष्य उत्तम स्वर्गादिक लोकों में पहुंचता है। रजोगुण की बहुलता में मृत्यु होने पर मनुष्य पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेता है तथा तमोगुण की अधिकता में मृत्यु होने पर मनुष्य नरकादिक लोकों में पहुंच जाता है या कीट, पशु–पक्षी, आदि तिर्यक योनियें में जन्म ले लेता है। इसके अतिरिक्त तत्वदर्शी महापुरूष परमात्मा के परमधाम अर्थात् वैकुंठ लोक में पहुंच जाता है। इस प्रकार मनुष्य को पुनः जन्म नहीं प्राप्त होता है और वह मनुष्य जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् की गति के बारे में शास्त्रों के कथन पर हमें विश्वास करना पड़ता है। क्योंकि हमारी वहां तक पहुंच नहीं है।

प्रश्न 196. बहुत से लोगों की मान्यता है कि नर्क और स्वर्ग दोनों ही पृथ्वी पर है इसमें सत्यता क्या है ?

उत्तर : मनुष्य जो कुछ देख्ता है उसमें वह तत्काल विश्वास कर लेता है तथा जो कुछ नहीं देखता है उसमें शीघ्र विश्वास नहीं करता है। हम अनेक प्रकार के कष्टों को देखते है तो उसे नरक का प्रतिरूप मान लेते है और सुखों को देखते है तो उसे स्वर्ग मान लेते है। मृत्यु के उपरान्त क्या स्थिति है यह हम मनुष्य शरीर में रहते हुए नहीं जान सकते। इस कारण हमें शास्त्रों के कथन पर विश्वास करना पड़ता है। हम नरक स्वर्ग के बारे में उसकी स्थिति के बारे में विचार करने तथा विचार व्यक्त करने को स्वतंत्र है। विचारों तथा मान्यता से सृष्टि के लोकों का अस्तित्व बनता बिगड़ता नही है। वह परमात्मा के विचारों से बनता बिगड़ता है। हम नरक और स्वर्ग को पृथ्वी लोक पर माने तो यह हमारा विचार है। परन्तु इसमें वास्तविकता नहीं है। शास्त्रों में ऐसा वर्णन आता है कि जो मनुष्य स्वर्गदाकि लोकों से वापस आते है उनमें अनेक प्रकार के गुण रहते है और जो नरकादिक लोकों से वापस आते है उनमें अनेक प्रकार के अवगुण स्वतः ही रहते है। यह देवताओं और असुरों की संगति के प्रभाव से होता है।

प्रश्न 197. परमात्मा कहां रहता है और क्या उसका लोक अनेक लोकों से पृथक है ?

उत्तर : शास्त्रों में ऐसा वर्णन आता है कि परमात्मा को जो लोक है वह समस्त लोकों के उपर है और उसे परमधाम कहा जाता है। मृत्यु के उपरान्त यदि मनुष्य परमधाम के अतिरिक्त अन्य किसी लोक में जाता है तो वहां से उसकी वापसी हो जाती है परन्तु परमधाम में पहुंचने के उपरान्त उसकी पुनः इस पृथ्वी लोक पर वापसी नहीं होती है।

प्रश्न 198. उस परम धाम में कौन से मनुष्य निवास करते है ?

उत्तर : उस परमात्मा के परमधाम में वे सिद्धजन्य निवास करते है जो इस संसार में रहकर मुक्त हो जाते है। परमात्मा के परम प्रिय भक्त परमात्मा की सन्धियता में रहते है और वे सर्वकालिक रूप से वहां निवास करते है। परमधाम में सुख ही सुख है। वहां दुःख की कल्पना भी नहीं है। इसलिए जन्म मरण के चक्र से मुक्त मनुष्य परमधाम में पहुंच कर पुनः इस लोक में वापस नहीं आता है।

प्रश्न 199. परमधाम में क्या सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश है ?

उत्तर : परमात्मा के निवास स्थान में सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश नही है। अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा परमात्मा के परम धाम को प्रकाशित नहीं कर सकते है और न ही वहां पर अग्नि का प्रकाश है। वहां पर एक विशिष्ट प्रकाश है जो परमात्मा की व्यवस्था में उत्पन्न होता है। इस प्रकाश को अलौकिक या अद्‌भुत प्रकाश भी कह सकते है।

प्रश्न 200. परमात्मा की प्राप्ति किस प्रकार से हो सकती है ?

उत्तर : परमात्मा की प्राप्ति के अनेक उपायों का उल्लेख शास्त्रों में आता है। जिसका वर्णन पूर्व में भी हो चुका है। परन्तु परमात्मा से अनन्य प्रेम करने से परमात्मा की शीघ्र ही प्राप्ति हो जाती है और ऐसा मनुष्य मृत्यु के उपरान्त परमात्मा के परमधाम में ही निवास करता है।